

विश्व के प्रमुख धर्म



डॉ० दिनेश चन्द्र पाण्डेय



Published by :

South Asia Research & Development Institute

B. 28/70, Manas Mandir, Durgakund
Varanasi-221005, U.P. (INDIA)

विश्व के प्रमुख धर्म

लेखक

डॉ० दिनेश चन्द्र पाण्डेय

एम०ए० (दर्शनशास्त्र), नेट, पी-एच०डी० बी०एच०यू०

एसोसिएट प्रोफेसर

रामदेव पी०जी० कॉलेज

जंगीगंज, भदोही

प्रकाशक :

साउथ एशिया रिसर्च डेवलपमेन्ट इंस्टीट्यूट

दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, उ०प्र० (भारत)

प्रकाशक :

साउथ एशिया रिसर्च डेवलपमेन्ट इंस्टीट्यूट
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, उ०प्र० (भारत)

© डॉ० दिनेश चन्द्र पाण्डेय

प्रथम संस्करण २०१६

ISBN 978-81-932391-8-6

मूल्य : एक सौ पैंतीस रुपये मात्र

मुद्रक :

राज ग्राफिक्स

बी०एच०यू० रोड, लंका, वाराणसी

सम्पर्क सूत्र : 09415842611

प्राक्कथन

दार्शनिक शोधों तथा अध्ययनों में विश्व के प्रमुख धर्म या तुलनात्मक धर्म का स्थान अत्यन्त ही विशिष्ट और महत्वपूर्ण माना जाने लगा है। यही कारण है कि भारतीय विश्वविद्यालय ने विश्व के प्रमुख धर्म को अपने पाठ्यक्रम में रखना प्रारम्भ किया है।

प्रस्तुत पुस्तक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों को दृष्टि में रखते हुए लिखी गयी है। निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त कुछ अन्य धर्मों का भी उल्लेख पुस्तक में होना चाहिए था, परन्तु शीघ्रता में सम्भव नहीं हो सका। पुस्तक के अगले संस्करण में अन्य धर्मों का भी समावेश कर दिया जाएगा। पुस्तक कितनी उपयोगी हो सकी है इसका निर्णय पाठक ही कर सकते हैं। यदि पुस्तक में कोई विशेष कमी हो तो मेरा विनम्र अनुरोध है कि सुधी पाठक उस ओर स्पष्ट संकेत करने तथा सुझाव देने की कृपा करेंगे।

अन्त में प्रकाशक श्री साउथ एशिया रिसर्च डेवलपमेन्ट इंस्टीट्यूट, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, उ०प्र० (भारत) एवं मुद्रक राज ग्राॅफिक्स, लंका, वाराणसी, उ०प्र० (भारत) को मैं धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने शीघ्रता से पुस्तक प्रकाशित करने का कार्य किया।

25/12/2015

डॉ० दिनेश चन्द्र पाण्डेय

दर्शनशास्त्र विभाग
रामदेव पी०जी० कॉलेज
जंगीगंज, भदोही



अनुक्रम

१. हिन्दू धर्म 7-27
- हिन्दू धर्म की चार अवस्था-वैदिक युग
 - आचार्य युग
 - भक्ति युग
 - आधुनिक युग
 - श्रुतियों में आस्था
 - ईश्वर में विश्वास
 - आत्मा
 - विश्व की नश्वरता
 - पुनर्जन्म एवं आवागमन चक्र
 - कर्मवाद
 - पुरुषार्थ
 - वर्णाश्रम व्यवस्था
 - नैतिकता
 - हिन्दू धर्म की शाखाएँ-प्रशाखाएँ
२. इस्लाम धर्म 28-57
- ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और आधार
 - इस्लाम का अर्थ
 - मुहम्मद साहब तथा कुरान
 - हदीस
 - मुहम्मद साहब-जीवन परिचय
 - इस्लाम धर्म की मूलभूत विशेषताएँ
 - इस्लाम धर्म में ईश्वर-विचार
 - मानव की महत्ता और पाप-विहीनता
 - मृत्यु के परे का जीवन

- मानव की परमागति
- इस्लाम और नैतिक जीवन (मानव एकता)
- नैतिक गुण तथा अनैतिक कार्य
- इस्लाम के धार्मिक कर्म
- इस्लाम के सम्प्रदाय

३. सिक्ख धर्म

58-85

- गुरुनानक तथा 'गुरु ग्रन्थ साहिब'
- सिक्ख धर्म की मूलभूत विशेषताएँ
- सिक्ख धर्म में ईश्वर की धारणा
- सिक्ख धर्म में जगत विचार
- सिक्ख धर्म में मनुष्य की अवधारणा
- मृत्यु से परे का जीवन
- सिक्ख धर्म में मानव की परमागति (आत्मोपलब्धि है)
- आत्मोपलब्धि या मोक्ष के उपाय (मार्ग)
- भक्ति मार्ग
- योग मार्ग
- सिक्ख धर्म के सम्प्रदाय
- सिक्ख धर्म तथा हिन्दू धर्म

४. ईसाई धर्म

86-111

- ऐतिहासिक और पृष्ठभूमि
- ईश्वर
- त्र्येक परमेश्वर
- नैतिकता
- मसीहा और स्वर्ग का राज्य
- शुभ-अशुभ
- मानव
- ईसाई धर्म में पाप से मुक्ति और इसके मार्ग

हिन्दू धर्म की स्थिति अन्य धर्मों से भिन्न है। ईसाई धर्म की स्थापना क्राइस्ट द्वारा, इस्लाम धर्म मोहम्मद साहब द्वारा, पारसी (जोरोस्टियनिज्म) धर्म जोरोस्टर द्वारा संस्थापित किया गया, परन्तु हिन्दू धर्म की संस्थापना किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं हुई। जहाँ तक इसके नामकरण का प्रश्न है, हिन्दू नाम न तो किसी जाति द्वारा दिया गया और न तो इस धर्म के अनुयायियों द्वारा ही रखा गया है। कहा जाता है कि हिन्दू नाम सिन्धु नदी के नाम पर आधारित है। सिन्धु को अंग्रेजी में इन्डस (Indus) कहा गया। पारसियों तथा पाश्चात्य आक्रामकों द्वारा गलत उच्चारण के कारण इन्डस से 'हिन्दूज' (Hindus) हो गया।^१ नामकरण का आधार चाहे जो भी रहा हो, हिन्दू धर्म एक प्राचीन एवं सनातन धर्म माना जाता है, क्योंकि इस मूल आधार वैदिक परम्पराएँ ही हैं। यद्यपि हिन्दू धर्म का मूल स्रोत वैदिक परम्परा अवश्य है परन्तु अन्य कई अवैदिक परम्पराएँ भी इसके विकास में सहयोगी रही हैं। अनेक विचारकों के अनुसार जैन, बौद्ध और सिक्ख धर्म हिन्दू के अन्तर्गत ही हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि जैन और बौद्ध धर्म वैदिक धर्म से पृथक् नहीं कहे जा सकते।

विकास की दृष्टि से हिन्दू धर्म को चार अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है- १. वैदिक युग, २. आचार्य युग, ३. सन्त युग, ४. आधुनिक युग।

१. वैदिक युग - प्रत्येक धर्म का अपना एक धर्म ग्रन्थ होता है। वही मूल आधार होता है जिस पर धर्म अवस्थित होता है। हिन्दू धर्म का आधार वेद हैं। वेद अपौरुषेय एवं सनातन हैं। इसलिए हिन्दू धर्म सनातन धर्म भी कहलाता है। हिन्दू धर्म के अन्य धर्म-ग्रन्थ भी हैं जिन्हें हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम भाग में श्रुति एवं स्मृति हैं। चार वेद, उपनिषद् एवं गीता श्रुति हैं तथा मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि स्मृति हैं। महाकाव्य पुराण एवं आगम आदि धर्मग्रन्थों को दूसरे भाग में रखा जा सकता है। तीसरे भाग में टीकाओं और व्याख्याओं को रखा जा सकता है जिसमें विभिन्न आचार्यों द्वारा श्रुति-स्मृति, महाकाव्य और पुराण आदि पर टीकाएँ तथा धार्मिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है।

१. मित्रा- डायनामिक्स ऑफ फेथ, पृ० १६४, डॉ० राधाकृष्णन 'दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, पृ० १२।

विश्व के प्रमुख धर्म

विकास की दृष्टि से वैदिक युग को भी तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है- १. संहिताकाल, २. ब्राह्मणकाल और ३. अरण्यकाल। प्रथम अवस्था में वैदिक ऋषियों की धार्मिक अनुभूति और वैदिक सत्त्यों का अनुभव आता है। दूसरे काल में कर्मकाण्ड का विवेचन आता है और तीसरे काल में दार्शनिकता की प्रधानता है। यह काल उपनिषद्काल से भी अभिहित किया जा सकता है, क्योंकि इसी समय उपनिषदों की रचना हुई। उपनिषद् वैदिक चिन्तन की पराकाष्ठा है। इसलिए उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है। इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उपनिषद् ही हिन्दू धर्म की नींव है। भारतीय धर्म, संस्कृति और दर्शन का मूल स्रोत और आधार इसी काल को माना जा सकता है। इसी काल में बहुदेववाद अद्वैतवाद में और कर्मकाण्ड अध्यात्मवाद में प्रविष्ट होता है।

२. **आचार्य युग-** इस युग में विभिन्न आचार्यों ने वेदान्त की अलग-अलग व्याख्याएँ कीं। शंकराचार्य का मायावाद जिसका भारतीय जन-जीवन पर अमिट प्रभाव देखा जाता है, इसी काल में स्थापित हुआ। शंकर ने अद्वैतवाद के आधार पर एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया है और द्वैत का निषेध करते हुए जगत को प्रपंच या मिथ्या कहा। शंकर के अतिरिक्त रामानुज, बल्लभ एवं निम्बार्क प्रभृति आचार्यों ने वेदान्त की व्याख्या की। इन समस्त आचार्यों का योग हिन्दू धर्म के लिए महान् है।

३. **भक्ति युग-** आचार्य युग में वेदान्त की व्याख्या से जिस शुष्क ज्ञानवाद का प्रचार हुआ वह बहुत लोकप्रिय न हो सका, उसकी प्रतिक्रिया फलस्वरूप मध्यकालीन भारत में भक्ति-सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। शैव और वैष्णव भक्तों ने ज्ञान के स्थान पर भक्ति की रसधारा प्रवाहित की। कहना न होगा कि जिस प्रकार शंकराचार्य ने अवैदिक धर्म-परम्पराओं (जैन, बौद्ध धर्म) से रक्षा के लिए वैदिक धर्म का विकास ज्ञानवाद के रूप में किया, उसी प्रकार इन भक्ति सम्प्रदायों ने भारत पर अनेक जातियों और धर्मों के आक्रमण से बचने के लिए भक्ति का बिगुल बजाया। भक्ति-आन्दोलन प्रारम्भ हो गया और इनमें अनेक सन्तों और भक्तों ने भाग लिया। चैतन्य, कबीर, सूरदास, तुलसी, मीरा आदि ने अपनी काव्य-धारा से हिन्दू जन-जीवन को प्राण दान दिया। हिन्दू धर्म इन भक्तों की रचना-परम्परा में पूर्णतया सुरक्षित है, और आज भी इनका जीवन पर स्पष्ट प्रभाव दिखायी दे रहा है।

४. **आधुनिक युग-** आधुनिक युग में विज्ञान के प्रभाव तथा पाश्चात्य धर्म परम्परा के प्रवेश से हिन्दू धर्म में परिवर्तन आया है। युग के अनुकूल धर्म हो, यह युग की माँग है। अतः बाह्य धर्मों के प्रभाव से मुक्त रखने तथा युगानुकूल धर्म की आवश्यकता को देखते हुए

हिन्दू धर्म

हिन्दू धर्मों की नवीन व्याख्या की गयी। गतिशील धर्म ही युगानुकूल हो सकता है। हिन्दू धर्म प्रगतिवादी है। इसकी प्रगतिशीलता सनातनता में ही है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि सदियों से इस धर्म पर कितने घात-प्रतिघात हुए, कितने धर्मों का प्रवेश हुआ परन्तु सभी को यह अन्तस्त कर गया, यही इसकी विशालता एवं उदारता है और सर्वोपरि प्रगतिशीलता भी। ;ह चिरनवीन है। समय-समय पर अवतारों और महापुरुषों का आगमन हुआ है और उनका नव सन्देश सनातन में विलीन होकर भी नवीन कलेवर लेकर जन-जीवन के समक्ष आता है। आधुनिक युग में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द एवं गाँधी ने हिन्दू धर्म को नवीन कलेवर दिया है। हम अगले पृष्ठों में देखने का प्रायास करेंगे कि श्री रामकृष्ण ने किस प्रकार और कितनी नवीनता हिन्दू धर्म में उत्पन्न की है। हिन्दू धर्म क्या है, इस विषय को थोड़े पृष्ठों में बाँधना सम्भव नहीं है, क्योंकि इतना इसका विपुल साहित्य और इसके इतने अनेक व्याख्याता हैं कि उन सबको यहाँ देख पाना सम्भव नहीं होगा। हाँ इतना तो सर्वमान्य है कि हिन्दू धर्म को समग्र रूप से प्रस्तुत करने का प्रतिनिधित्व उपनिषद् और गीता द्वारा होता है। इन्हीं के आधार पर हम हिन्दू धर्म की कुछ प्रमुख मान्यताओं पर दृष्टिपात कर सकते हैं। उदाहरण के लिए श्रुतियों में आस्था, ईश्वर में विश्वास, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म एवं आवागमन चक्र, कर्मवाद, पुरुषार्थ तथा वर्णाश्रम व्यवस्था आदि।

श्रुतियों से आस्था- हिन्दू धर्म की मुख्य मान्यता श्रुतियों में आस्था है। हिन्दू धर्म के अनुसार आस्तिक, नास्तिक का भेद इसी बात पर निर्भर है कि जो वेदों में आस्था रखे वहीं आस्तिक है, ईश्वर में आस्था रखना आवश्यक नहीं है। कोई व्यक्ति नास्तिक इसलिए नहीं है कि वह ईश्वर में आस्था रखता वरन् वेद और श्रुतियों में अनास्था रखने वाला ही नास्तिक है। यही कारण है कि सांख्य और मीमांसा दर्शन में ईश्वर में आस्था न रखने पर भी नास्तिक नहीं कहे जाते। वे आस्तिक दर्शन हैं क्योंकि उनकी आस्था वेदों में है। दूसरी ओर जैन तथा बौद्ध धर्म इनसे कई अर्थों में समानता रखते हैं। फिर भी श्रुतियों में आस्था न रखने के कारण नास्तिक कहे जाते हैं।

ईश्वर में विश्वास- हिन्दू धर्म में ऐसा विश्वास है कि ईश्वर सृष्टिकर्ता है। जैन एवं बौद्ध धर्म के अतिरिक्त हिन्दू एक अति प्राकृतिक शक्ति में विश्वास रखते हैं, जो जगत् का सृष्टिकर्ता है और जगत् को अपने में धारण किये हुए है। ब्रह्म सूत्र में कहा गया है 'यतो वा इयानि भूतानि'। ईश्वर ही परमसत्ता है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय इसी सत्ता पर निर्भर है। गीता में कहा गया है ईश्वर उस सूत्र के समान है जिसमें सम्पूर्ण अस्तित्ववान जगत् उसी

विश्व के प्रमुख धर्म

प्रकार पिरोया हुआ है जिस प्रकार मणियाँ सूत्र में पिरोयी रहती हैं। 'मयि सर्वे मिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' (७/७) हिन्दू धर्म में ईश्वर का स्वरूप दो प्रकार का पाया जाता है- निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार। निर्गुण ईश्वर मन-बुद्धि से परे (अचिन्त्यम्), सर्वव्यापी (सर्वत्रगम्), अकथनीय (अनिर्देश्यम्), सदा एक रहने वाला (कूटस्थम्), नित्य (ध्रुवम्), अचल (अचलम्), निराकार (अव्यक्तम्) और अविनाशी (अक्षरम्) है। सगुण ईश्वर शरीरधारी पुरुषोत्तम वासुदेव हैं। वह सम्पूर्ण जगत का धारण-पोषण करने वाला, कर्म फल को देने वाला, पिता-माता, पितामह, स्वामी, साक्षी (शुभाशुभ को देखने वाला), निवास और शरण है। वह सर्वगुण सम्पन्न, परम दयालु, सर्वोन्तर्यामी, सर्वव्यापी है। पुरुषोत्तम भक्तों के उपास्य देव हैं। ईश्वर की दो प्राकृतियाँ हैं- एक परा और दूसरी अपरा। अपरा प्राकृति जड़ है जिसके आठ भेद हैं, -पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन बुद्धि और अहंकार। परा प्रकृति चेतन है। इस प्रकार चेतन तथा जड़ पदार्थों को परा और अपरा प्रकृति में विभाजित किया है। इस आधार पर ईश्वर विश्व रूप और विश्वातीत दोनों है। वह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त भी है और जगत से परे भी है। हिन्दू धर्म में ईश्वर-अवतार की अवधारणा मिलती है। ईश्वर नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त पूर्ण ब्रह्म परमात्मा होते हुए भी अनेक रूपों में प्रकट होता है। गीता में भगवान ने कहा है- मैं अजन्मा और अविनाशी होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपने योगमाया से प्रकट होता हूँ (४/६)। जब धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब मैं साकार रूप में प्रकट होता हूँ (४/४)।

आत्मा- हिन्दू धर्म में आत्मा एक आध्यात्मिक तत्व है, जो शरीर से भिन्न है। शरीर जन्म लेता है और मरता है। आत्मा देश-काल से परे अमर और अजन्मा है। शरीर में आबद्ध होने पर वह जीवात्मा है, जीवात्मा ईश्वर का ही अंश है। तात्विक रूप में आत्मा अनन्त और नित्य है। वह सर्वव्यापी, स्थिर, अनिर्वचनीय और परिवर्तनीय है। आत्मा मन, बुद्धि और इन्द्रियों से परे है। आत्मा का अस्तित्व शरीर के पहले और बाद में भी रहता है। शरीरान्त हो जाने पर आत्मा नये शरीर में प्रविष्ट हो जाती है। आत्मा सत्, रज और तमसे परे है। इन्हीं गुणों से सुख-दुःख, तृष्णा, संवेग, भ्रम, मन, बुद्धि और अहंकार आदि इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। विषय भी इन्हीं गुणों से पैदा होते हैं। आत्मा इन गुणों और वृत्तियों से परे साक्षी रूप है। सांसारिकता में लिप्त जीवात्मा बन्धन में रहता है। परन्तु मुक्तावस्था में शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जब तक जीवात्मा जीवात्मा मुक्ति की प्राप्ति नहीं करती तब तक नाना योनियों में शरीर धारण करती रहती है। शरीर से आत्मा का सम्बन्ध होने पर आत्मा की भौतिक, मानसिक एवं नैतिक गुण प्रकट होते हैं। भौतिक दृष्टि से जीवात्मा के तीन

हिन्दू धर्म

शरीर होते हैं- स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर। स्थूल शरीर का निर्माण पंच भूतों से होता है और इसका विकास अन्न से होता है। इसलिए इसे 'अन्नमयकोश' भी कहते हैं। सूक्ष्म शरीर को लिंग शरीर भी कहते हैं, क्योंकि यह चिन्ह का यह काम करता है। इसके द्वारा आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है। सूक्ष्म शरीर के तत्त्व हैं- पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कमेन्द्रिय, पंच प्राण, और बुद्धि आदि।^१

इस प्रकार सूक्ष्म शरीर प्राणमात्र, मनोमय और विज्ञानमय का संयोजन है। जीव के कर्मों के अनुसार उसके पाप-पुण्य सूक्ष्म शरीर में संचित रहते हैं और जीव दूसरे शरीर में प्रवेश पाता है तो सूक्ष्म शरीर उसके साथ रहता है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर के कारण होने के नाते तीसरे प्रकार का शरीर कारण शरीर कहलाता है। मानसिक दृष्टि से आत्मा के तीन प्रकार हैं- ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक। आत्मा में ज्ञान, इच्छा, क्रिया और सुख-दुःख आदि गुण पाये जाते हैं, परन्तु ये तभी तक रहते हैं जब तक कि आत्मा बन्धन में हैं, जब मुक्तावस्था को प्राप्त करती है तब ये सभी गुण समाप्त हो जाते हैं। आत्मा चित रूप है। आत्मा की चेतनावस्था चार प्रकार की है- जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था, निद्रावस्था, तुरीयावस्था, जिनको क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ और विश्वातीत अवस्था भी कहा जाता है। यह चौथी अवस्था शुद्ध चैतन्य की अवस्था है। इसमें आत्मा व्यावहारिक बन्धन से मुक्त रहती है। नैतिक दृष्टि से आत्मा के गुण विशेष महत्वपूर्ण हैं। इसी आधार पर भौतिक एवं मानसिक गुणों का निर्धारण होता है। शरीर, परिवार और समाज तथा शुभ-अशुभ कार्य, प्रकृति आदि की प्राप्ति इसी से होती है। कर्म ही प्रधान है। इसी के फलस्वरूप जीव का स्वरूप निर्धारित होता है। नैतिक स्थिति के अनुसार जीवात्मा के तीन रूप माने गये हैं- नित्य जीव- ऐसे जीव जो सदैव मुक्त रहते हैं, बन्धन में आते ही नहीं। मुक्त जीव- ऐसे जीव जो सदैव मुक्त हो चुके। बुद्ध जीव- वे जीव हैं जो सदैव बन्धनग्रस्त हैं। साधारण मनुष्य इसी कोटि का है।

विश्व की नश्वरता- हिन्दू धर्म विश्व की प्रत्येक वस्तु को नाशवान एवं परिवर्तनशील मानता है। अपढ़ हिन्दू भी यह विश्वास करता है कि मृत्यु, नश्वरता एवं विनाश सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। अतः इसी धारणा के साथ यह विचार भी असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया जाता है कि जो वस्तु परिवर्तनशील और नाशवान है, वह सत् नहीं हो सकती। यदि कोई वस्तु किसी समय में प्रारम्भ होती है और समय विशेष में ही नष्ट होती है तो वह असत् है। जब

१. शंकराचार्य- विवेक चूडामणि-पृ० ३१-३३

विश्व के प्रमुख धर्म

प्रारम्भ और अन्त असत् है तो मध्य तो असत् होना ही चाहिए। हिन्दू धर्म की इस धारणा की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि यह तो सर्वेच्च दार्शनिक धारणा, परन्तु हिन्दू समाज के निम्न से निम्न वर्ग के लोगों के जीवन में भी यह व्याप्त है। इस विश्वास का सम्बन्ध एक दूसरे विश्वास से भी है, वह आत्मा का अनश्वर होना। इस नाशवान विश्व के पीछे एक सत् सत्ता, आत्मा है। अतः इस नाशवान विश्व में लिप्त रहने के स्थान पर आत्मोपलब्धि ही हिन्दू धर्म का परम लक्ष्य है।

कुछ लोगों का विचार है कि हिन्दू धर्म की विश्व की नश्वरता की धारणा बौद्ध धर्म से ली गयी है। ऐसे विचार को यदि पूर्णतया अस्वीकार कर दिया जाय तो बहुत विवाद का विषय नहीं होगा। इसके दो कारण हैं, एक तो यह है कि हिन्दू धर्म में विश्व की अनित्यता पर प्रारम्भ से ही बल दिया गया है। उपनिषदों में इसके अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।^१ दूसरे धर्म में इन विश्व में सर्वजनीनता है। संसार की क्षणिकता का केवल तात्त्विक आधार ही नहीं है, वरन् इसका नैतिक और अध्यात्मिक महत्व भी है।

विश्व की नश्वरता का प्रभाव हिन्दू धर्म में दो रूपों में देखा जाता है। आचरण के रूप में सन्यासवाद और धर्म में रहस्यवाद का महत्व इसी धारणा का फल है। यदि यह विश्व क्षण-भंगुर, अस्थायी एवं नाशवान है, तो फिर इसके पीछे क्यों दौड़ लगायी जाय, इससे विरक्ति होना स्वाभाविक है। अध्यात्म के क्षेत्र में यह धारणा परम तत्व-जो स्थायी और नित्य है, की ओर अग्रसर करती है। हिन्दू धर्म में नित्य आत्म तत्व (ईश्वर) को पाना और उससे एकत्व प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म इहलौकिक की अपेक्षा पारलौकिक जगत् को महत्व देता है।

पुनर्जन्म एवं आवागमन-चक्र- हिन्दू धर्म में पुनर्जन्म की धारणा आत्मा की अमरता पर निर्भर है। इसी धारणा में कर्म का नियम भी पृष्ठभूमि का काम करता है। ऐसा विश्वास है कि मृत्यु के समय शरीर तो नष्ट हो जाता है परन्तु जीवात्मा का नाश नहीं होता। जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार पुनः जन्म धारणा करता है। गीता में कहा गया है कि जैसे मनुष्य अपने पुराने जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नये शरीरों को ग्रहण करता है। (२/२२)। पुनः कहा गया है कि जैसे जीवात्मा की इस देश में कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है (२/१४)।

१. कठोपनिषद् १-२-१-२ १.२.३. मैत्री उपनिषद् १, २-७।

हिन्दू धर्म

पुनर्जन्म एक बाद ही नहीं वरन् अनेक बाद होता है। जीवात्मा कर्मों के अनुसार बार-बार मृत्यु और जन्म के चक्कर में पड़ा रहता है। यही आवागमन का चक्र है। जीवन का परम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है। जब तक इस लक्ष्य को जीवात्मा नहीं प्राप्त कर लेता तब तक उसे अनेक बार अनेक योनियों में से गुजरना पड़ता है। कर्मों का भोग प्राप्त करने के लिए जीव को जन्म लेना ही पड़ता है। उपनिषदों में परलोकवाद और पुनर्जन्म की धारणा का नैतिक आधार प्रस्तुत किया गया है। कर्मों के अनुरूप ही मनुष्य को जीवन मिलता है। यह नैतिक आधार ही पुनर्जन्म की पृष्ठभूमि है। छन्दोग्योपनिषद् में बतलाया गया है कि जिनका आचरण रमणीय रहा है उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य की रमणीय योनि मिलती है, जिनका आचरण दूषित रहा है उन्हें श्वान, शूकर अथवा चाण्डाल की निकृष्ट योनि मिलती है।

‘कौषतिकी उपनिषद्’ में कर्मानुरूप कीट, पतंग, मछली, पक्षी, बाघ, साँप, मनुष्य आदि इनमें से किसी योनि में जन्म लेने का उल्लेख किया गया है।^१ पुनर्जन्म की यह धारणा बौद्ध, जैन एवं सिक्ख धर्मों में भी मिलती है।

कई आलोचक इस धारणा की आलोचना करते हैं। उनकी दृष्टि में यह केवल कल्पना मात्र है। यदि पुनर्जन्म होता है तो व्यक्ति को पुनर्जन्म की घटनाएँ भी याद होनी चाहिए और उन पर पिछले वंश-परम्परा का प्रभाव भी पड़ना चाहिए। सबसे बड़ी आलोचना तो यह की जाती है कि इस धारणा से व्यक्ति में पलायनवादिता, अकर्मण्यता और निराशा की भावना प्रधान हो जाती है। पाश्चात्य विचारकों के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय मनीषी श्री अरविन्द का विचार है कि आरोहण-अवरोहण की प्रक्रिया में विकासवादी दृष्टिकोण से मनुष्य का विकास उच्च है। उच्च विकास अर्थात् मनुष्य योनि प्राप्त करने पर फिर निम्न योनि में आने का कोई विकासवादी आधार ही पुष्ट नहीं होता। अर्थात् व्यक्ति जहाँ है वहीं से उसका विकास आगे की ओर होता है। पीछे लौटने का कोई प्रश्न ही नहीं होता। उनके शब्दों में ‘आत्मा चैत्य पुरुष एक बार मानवीय चेतना तक पहुँचने पर न तो निम्न कोटि की पशु चेतना में वापिस जा सकती है और न पेड़ या किसी क्षण जीवी कीड़े में।’^२ स्पष्ट है कि श्री अरविन्द को निम्न योनियों में जन्म ग्रहण करने की धारणा स्वीकार नहीं है। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि पुनर्जन्म सम्भव नहीं है। पुनर्जन्म में पाश्चात्य वैज्ञानिकों और

१. छान्दो, ५, १०, ७ कौषतिकी १, २ प्रो० आर० डी० रानाडे, ‘उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण’, पृ० ११६।

२. श्री अरविन्द के पत्र, भाग २, पृ० १४१

विश्व के प्रमुख धर्म

विचारकों की भी आस्था है। अनेक खोजों से इसकी पुष्टि की गई है। स्टीवेन्सन की 'ट्वेन्टी केसेस आफ रि इनकारनेशन' इसका प्रमाण है। पुनर्जन्म एक तथ्य है। इसके कारण व्यक्ति पलायनवादी न होकर धर्मनिष्ठ और नीतिपरायण होता है। प्रो० रानाडे का कथन ही इस विषय में अधिक समीचीन लगता है कि 'मृत्यु के बाद आत्मा क्या गति होती है, यह मानवी प्रज्ञा के अधिकार की बात नहीं है। यदि उपनिषद्कार को कोई श्रेय दिया जा सकता है तो वह प्रश्न को हल कर देने का नहीं वरन् उत्तर के प्रयास मात्र का। दार्शनिक दृष्टि से आत्मा के आरोहण और अवरोहण के स्तरों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, वरन् हमारा सम्बन्ध उर्ध्वमार्ग और अधोमार्ग की कल्पना मात्र से है।- 'कर्मों के अनुरूप ही मनुष्य को जीवन मिलता है', यह नैतिक आधार ही उपनिषदीय परलोक शास्त्र को दार्शनिक महत्व प्रदान करता है।'^१

कर्मवाद- सभी धर्मों के समान ही हिन्दू धर्म में भी कर्मवाद में विश्वास किया जाता है। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों का उत्तरदायी है। व्यक्ति को अपने कर्मों के अच्छे और बुरे फल को प्राप्त करना ही होगा। इससे छुटकारा नहीं मिल सकता है। 'जैसा तुम बोओगे वैसा तुम काटोगे।'

जिस प्रकार कार्य-करण का नियम भौतिक जगत में पाया जाता है उसी प्रकार नैतिक क्षेत्र में कार्य-करण का नियम कार्य करता है। कार्य-कारण का नियम सार्वभौमिक रूप से भौतिक जगत में व्याप्त है। कर्म का नियम भी सार्वभौमिक है। यह नियम स्वतः सिद्ध है। इसको स्वीकार करना ही पड़ता है। जीव के सभी कर्म या जीव की सभी घटनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुयी हैं। मृत्यु के बाद इन कर्मों की समाप्ति नहीं हो जाती। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। पुनर्जन्म में पुनः विगत कर्मों की क्रिया-प्रतिक्रिया आरम्भ होती है। अतः कर्म सिद्धान्त की दो प्रमुख बातें हैं- 'कृत प्रणाश अकृताम्युयगम'। अर्थात् किये गये कर्मों के फल का नाश नहीं होता और बिना किये गये कर्मों का फल नहीं मिलता। कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं- संचित, प्रारब्ध और संचायमान। संचित कर्म, पहले के लिये गये कर्म हैं जिसके फल का अभ्युदय अभी नहीं हुआ है। प्रारम्भ कर्म, वह कर्म है जो पहले किये जा चुके हैं और उनका फल वर्तमान जीवन में मिलने लगता है। संचायमान कर्म, वर्तमान जीवन में होने वाले कर्म हैं जो अगले जीवन के लिए संचित होंगे, इनका फल भविष्य में मिलेगा। इसे क्रियामाण कर्म भी कहा जाता है। इस प्रकार भूत, वर्तमान और

१. रानाडे-उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० ११६

हिन्दू धर्म

भविष्य एक ही शृंखला की कड़ी है। संसार में जो भी विषमता है उसका कारण कर्म ही है। हीन, उत्तम, स्वस्थ, अस्वस्थ, धनी, निर्धन, कुरूप, सुन्दर, बुद्धिहीन, आदि विषमताएँ अपने-अपने कर्मों के परिणामस्वरूप हैं। यदि अगला जीवन सुखमय बनाना है, तो इसके लिए प्रयत्नशील होना होगा।

हिन्दू धर्म में इस सार्वभौमिक नियम की एक सीमा भी बाँध दी गयी है। कर्मों का फल तो प्राप्त करना ही पड़ता है, परन्तु सभी प्रकार के कर्मों का नहीं। जो कर्म निष्काम भाव से किये जाते हैं, उनसे बन्धन नहीं होता। जैसे भुना हुआ बीज यदि बोया जाय तो उसमें अंकुरण नहीं होता, उसी प्रकार निष्काम भाव से किया गया कर्म फलदायी नहीं होता। अतः इस कर्म पर कर्म सिद्धान्त लागू नहीं होता। कर्म सिद्धान्त को वेदों में 'ऋत्' कहा गया है। इसका अर्थ होता 'जगत् की व्यवस्था'। इस व्यवस्था में नैतिक व्यवस्था समाहित है। उपनिषद् दर्शन में यही 'कर्मवाद' के रूप में आता है। न्याय-वैशेषिक इसे 'अदृष्ट' और मीमांसा 'अपूर्व' कहता है। जहाँ तक कर्म सिद्धान्त का सम्बन्ध है हिन्दू धर्म और जैन धर्म में समानता है। बुद्ध ने 'भव-चक्र' के सिद्धान्त से और जैन धर्म में 'कर्म परमाणु' के सिद्धान्त के रूप में इसे रखा है। किसी न किसी रूप में विश्व के धर्मों में लगभग यह सिद्धान्त सामान्य रूप से स्वीकार किया गया है। बाइबिल में कहा गया है- 'हे समझ वालो, !मेरी सूनो यह सम्भव नहीं कि ईश्वर दृष्टता का काम करे, और सर्वशक्तिमान बुरा करे। वह मनुष्य की करनी का फल देता है और प्रत्येक को अपनी-अपनी चाल का फल भुगताता है।'^१ पाप का फल दुःख ही होता है और पुण्य का फल सुख ही होता है या कहीं सज्जन भी काट डाले गये? मेरे देखने में तो जो पाप को जोतते और दुःख बोते हैं वही उसको काटते हैं।''

कुरान में भी कहा गया है कि 'जो भी विपत्ति किसी के ऊपर आती है वह उसके किए का नतीजा है।'

इस प्रकार कर्म के सिद्धान्त से दो उपसिद्धान्त निकलते हैं। प्रथम है, न्याय का सिद्धान्त जो कि नैतिक जगत् में व्याप्त है। ईश्वर-न्यायी है इसलिए शुभ कर्मों का परिणाम शुभ एवं अशुभ कर्मों का परिणाम अशुभ या दण्ड के रूप में दिया जाता है। नैतिक जगत् में एक निर्णय करने वाला जो पूर्णतया न्यायी और पवित्र है। इसलिए कर्म का नियम इतनी कठोरता और निश्चयता से क्रियाशील है।

१. अयूब- ३४/११, ४/७-८

विश्व के प्रमुख धर्म

दूसरा उपसिद्धान्त पुनर्जन्म का है। न्याय और पवित्रता का फल आवश्यक नहीं है कि इस अपूर्ण जीवन में ही प्राप्त हो सके। देखा जाता है कि साधु और पवित्र व्यक्ति वर्तमान जीवन में कष्ट पाते हैं और दुष्ट तथा अन्यायी सुखी तथा सम्पन्न जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रकार की असमायोजना को देखकर लगता है कि कोई भावी जीवन अवश्य है जिसमें अच्छे और बुरे कर्मों का फल अवश्य मिलेगा। कान्ट ने इसी मान्यता पर अपने नैतिक सिद्धान्त का समर्थन किया है। उन्होंने आत्मा की अमरता को इसीलिए नीतिशास्त्र में स्वयंसिद्ध के रूप में स्वीकार किया है। कहा गया है- 'सद्गुण स्वयं में पुरस्कार है।' यह कथन दार्शनिक की दृष्टि से भले ही सन्तोषपद्र हो, परन्तु कर्म का सिद्धान्त धार्मिक दृष्टि से लाखों लोगों को हजारों वर्षों से शान्ति और संतोष प्रदान कर रहा है। यदि अत्याचारी सुखी रहता है तो कर्म के नियम के आधार पर यह अवश्य विश्वास किया जाता है कि अगले जन्म में उसे अवश्य अपने अशुभ कर्मों का फल प्राप्त होगा। स्वर्ग और नरक की धारणा नैतिकता से सम्बद्ध है। यह केवल हिन्दू धर्म में ही नहीं वरन् यहूदी की 'शियोल' की धारणा, मुसमलानों के 'दोजक' की धारणा और जरस्थुतियों की 'न्याय का दिन' भी सर्वविदित है।

पुरुषार्थ - हिन्दू धर्म केवल चिन्तन-प्रधान ही नहीं व्यवहार-प्रधान भी है। यह एक जीवन-मार्ग है। हिन्दू धर्म में जहाँ विचारों की स्वतंत्रता है वहाँ नियमों का पालन भी कठोरता से किया जाता है। सम्पूर्ण जीवन धर्म एवं दर्शन की कड़ियों में आबद्ध है। लौकिक और पारलौकिक जीवन, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक जीवन, वैयक्तिक और सामाजिक जीवन एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। इस तथ्य का हिन्दू धर्म में जीवन का लक्ष्य माना गया है। यह चार प्रकार का है- काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। काम वह लक्ष्य है जहाँ मनुष्य के संवेगात्मक जीवन की पूर्ति होती है। 'काम' जीवन का कलात्मक एवं सर्जनात्मक पक्ष है, जीवन में इसकी पूर्ति आवश्यक है। यदि मनुष्य को इससे वंचित रखा जाय तो उसका जीवन पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसके अभाव में अनेक मानसिक और शारीरिक उपद्रव हो सकते हैं। जीवन में इसकी प्रधानता तो अवश्य है परन्तु यह परम लक्ष्य नहीं है। यदि जीवन नियंत्रित नहीं हुआ या अन्य मूल्यों से सम्बद्ध नहीं रहा तो जीवन विकास में सक बाधक सिद्ध होगा। 'अर्थ' काम की सन्तुष्टि के लिए अर्थ या भौतिक सम्पन्नता अनिवार्य है। जीवन जीवने योग्य तभी हो सकता है जब अर्थ की समुचित व्यवस्था हो। आर्थिक दृष्टि से अंकित व्यक्ति या समाज कभी जीवन की पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकता। हिन्दू धर्म में अर्थ ही परम लक्ष्य तो नहीं माना गया है परन्तु परम लक्ष्य

हिन्दू धर्म

की प्राप्ति में यह कुछ सीमा तक सहायक अवश्य है। आर्थिक संकट से मुक्त व्यक्ति या समाज ही आध्यात्मिक जीवन का विकसित कर सकता है, इस प्रकार ये दोनों पुरुषार्थ भौतिक जीवन तक ही महत्वपूर्ण हैं। आध्यात्मिक जीवन के लिए 'धर्म' पुरुषार्थ ही आवश्यक है। धर्म ही वह पुरुषार्थ है जो काम और अर्थ को नियन्त्रित करता है। धर्म के विषय में डॉ० राधाकृष्णन् की यह उक्ति सही है कि 'यह जीवन का परिपूर्ण नियम है और ऐसे सम्पूर्ण मानव के सामंजस्य हैं जो अपनी जीवन-चर्या को किसी सही और उचित नियम के अनुसार चलाता है।' धर्म का जीवन में महत्वपूर्ण कार्य है। धर्म में जीवन के विभिन्न कार्यों में संगति आती है और इससे उनको दिशा प्रदान होती है।^१ धर्म सम्पूर्ण जीवन का नियमन करता है। व्यक्तिगत ही नहीं सामाजिक जीवन और व्यवस्था का मूल आधार यह धर्म ही है। मानव जीवन के चार पक्ष हैं- वासनात्मक या संवेगात्मक, आर्थिक, बौद्धिक या नैतिक और आध्यात्मिक। काम, अर्थ और धर्म जीवन के व्यावहारिक पक्ष को नियमित करते हैं अथवा व्यावहारिक जीवन क यहीं तीन लक्ष्य हैं। जीवन का आध्यात्मिक पक्ष मनुष्य को व्यग्र करता है। इस व्यग्रता में वह इसके लक्ष्य को भी प्राप्त करना चाहता है। इसका लक्ष्य 'मोक्ष' है। 'मोक्ष' अन्तिम परन्तु परम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति में ही मानव जीवन की सार्थकता है। हिन्दू धर्म को निःश्रेयस कहा गया है, शरीर से भिन्न मानव में एक आत्म तत्व है। उस तत्व को जान लेना या उससे एकत्व स्थापित कर लेना ही मोक्ष है। इसे आध्यात्मिक स्वतन्त्रता भी कह सकते हैं। हिन्दू धर्म में मोक्ष की यह धारणा भी है कि मनुष्य आवागमन, जीवन स्मरण के चक्कर से छूट जाये। कुछ हिन्दू सम्प्रदायों में मोक्ष का अर्थ जीव और ईश्वर के नित्य सम्बन्ध बोध को भी कहा गया है। जो भी हो डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में इतना तो कहा ही जा सकता है कि मोक्ष सर्वात्मभाव की प्राप्ति है और यही जीवन का परम लक्ष्य है। उनके शब्दों में- 'अपने मन और बुद्धि, अपने हृदय और प्रेम तथा अपनी इच्छा और शक्ति के द्वारा सर्वात्मभाव की प्राप्ति के लिए आकांक्षा करना ही मनुष्य के मनुष्यत्व की उच्च भावना है।'^२

हिन्दू धर्म साधना मूलक है। जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है। इसे प्राप्त करने के लिए साधना की आवश्यकता है। सम्पूर्ण जीवन इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही साधनारत होना चाहिए। साधना के विभिन्न मार्ग हैं- कर्म, ज्ञान, भक्ति तथा योग मार्ग। इनमें से किसी

१. डॉ० राधाकृष्णन् - प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० ३८८।

२. वही, पृ० ३८७।

विश्व के प्रमुख धर्म

एक मार्ग से अभीष्ट की प्राप्ति की जा सकती है। गीता में इन सभी मार्गों का समाहार महापुरुषों के उदाहरण भी हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि हिन्दू धर्म उदारवादी है।

वर्णाश्रम व्यवस्था- हिन्दू धर्म ने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के नियमन के लिए एक व्यावस्था का प्रतिपादन किया है, वह वर्णाश्रम-व्यवस्था। इनमें वर्ण धर्म तो सामाजिक व्यवस्था और आश्रम धर्म व्यक्तिगत जीवन की व्यवस्था का नियमन करता है। इस प्रकार हिन्दू धर्म में सामाजिक व्यवस्था और आश्रम धर्म व्यक्तिगत जीवन की व्यवस्था का नियमन करता है। इस प्रकार हिन्दू धर्म में सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को समान रूप से महत्व प्रदान किया गया है। डॉ० राधाकृष्ण के अनुसार अपने गुण और कर्म के आधार पर मनुष्यों का समाज में अपना एक स्थान होता है और उस स्थान के अनुरूप उनको कुछ कर्तव्य भी करने होते हैं, इन्हीं को वर्ण-धर्म कहते हैं। ये धर्म का सामाजिक पक्ष उपस्थित करते हैं। व्यक्तिगत पक्ष 'आश्रम धर्म' कहलाता है जो जीवन के विभिन्न सोपानों-युवावस्था, प्रौढ़ावस्था या वृद्धावस्था के अनुरूप कर्तव्यों से सम्बन्धित होता है।^{१९} इस प्रकार हिन्दू धर्म के चार वर्ण माने गये हैं- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। सामाजिक व्यवस्था में इन सभी वर्गों का महत्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण के शरीर से इनकी उत्पत्ति हुई है- उनके सिर से ब्राह्मण की, भुजाओं से क्षत्रिय की, जाँघों से वैश्य की और पैरों से शूद्र की। इस रूपक से समाज में व्यक्ति के कार्यों का निरूपण किया गया है। गुण और स्वभाव के अनुसार समाज में नियुक्त व्यक्ति फिर एक जाति या समूह में माने जाने लगे। समाज का यह वर्गीकरण जो कर्मणा था वहीं जन्मना भी हो गया। हिन्दू धर्म के सुधारकों ने इसके विषय में अनेक सुधार-कार्य किये हैं। वैसे तो वर्ण-व्यवस्था समाज-कल्याण और श्रम-विभाजन की दृष्टि से की गई थीं, परन्तु बाद में इसके अन्तर्गत जाति-प्रथा की बुराइयाँ आ गयीं जो हिन्दू धर्म के लिए अभिशाप सिद्ध हुई।

आश्रम चार है- ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम। वैयक्तिक विकास के लिए ये चार आश्रम बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम भावी जीवन की पृष्ठभूमि है। इस काल में व्यक्ति आत्म संयम, नियम, सादगी, शुद्धता, कठोरता का पालन करता है। इन्द्रिय निग्रह रखते हुए अध्ययन करना, गुरु की सेवा करना और आध्यात्मिक विकास करना ब्रह्मचर्य आश्रम की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इस आश्रम में बारह वर्ष से चौबीस वर्ष का समय व्यतीत होता है। पचीस वर्ष की अवस्था से व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता है। इस समय

१. वही, पृ० ३९०।

हिन्दू धर्म

पारिवारिक जीवन व्यतीत करना, सामाजिक कर्तव्यों का पालन करना, पंच महायज्ञों (ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, भूत यज्ञ और मनुष्य यज्ञ) को पूर्ण करना आवश्यक माना गया है। गृहस्थ आश्रम में पचास की अवस्था तक रहकर समाज का कार्य करते हुए फिर वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट होना चाहिए। यह आध्यात्मिक चिन्तन का काल है। स्त्री-पुरुष दोनों को घर से अलग एकान्त में जप-तप, ईश्वर-चिन्तन, उपवास करते हुए सादा जीवन व्यतीत करते हुए प्राणिमात्र के कल्याण की कामना करना, स्वाध्याय करना और आध्यात्मिक विकास करना इस आश्रम के प्रमुख कर्तव्य हैं। सन्यास चौथी अवस्था है। वृद्धावस्था में स्त्री पुरुष अलग-अलग होकर सांसारिक जीवन से पूर्णतया विरत हो जाते हैं। इस आश्रम का एक ही उद्देश्य है- ईश्वर-प्राप्ति, आत्म साक्षात्कार। मधुकरी प्राप्त करके भोजन करना, प्राणिमात्र के प्राति दयालु तथा क्षमाशील होना और अहर्निश ईश्वर-चिन्तन में लीन रहना सन्यास आश्रम की विशेषता है। हिन्दू धर्म में सन्यासी मानव-समाज का पूज्य माना जाता है।

नैतिकता- हिन्दू धर्म व्यावहारिक है। धर्म की व्यावहारिकता बहुत कुछ नैतिकता पर आधारित है। नैतिक जीवन व्यतीत किये बिना धर्म की व्यावहारिकता, समाप्त-प्राय रहती है। जैसे तो प्रत्येक धर्म में नैतिकता का अपरिहार्य स्थान है, परन्तु हिन्दू धर्म में धर्म और नैतिकता का ऐसा मिश्रण है कि दोनों को अलग करना सम्भव नहीं है। विश्व के अनेक धर्म नैतिक नियमावली बनकर रह गये हैं, परन्तु हिन्दू धर्म में पायी जाने वाली नैतिकता ही धर्म का स्थान ले लेती है। अन्य धर्मों की तरह हिन्दू धर्म की नैतिकता की पूर्णता पूर्ण मानवता ही नहीं, पूर्ण आध्यात्मिकता है। नैतिकता का लक्ष्य मानवता की सीमा लाँघ कर आध्यात्मिक व्यक्तित्व की प्राप्ति करना है। गीता का 'स्थितप्रज्ञ' पूर्ण मानव भी है साथ ही पूर्ण आध्यात्मिक व्यक्तित्व भी है। गीता के स्थित प्रज्ञ की सभी विशेषताएँ नैतिकता को स्पष्ट करती हैं।^१ आध्यात्मिक पुरुष के जितने भी गुण बताये गये हैं वे नैतिक गुण ही हैं। अहिंसा, करुणा, मैत्री, संतोष, सत्य, ब्रह्माचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, क्षमा, दया, अभय आदि गुण नैतिक व्यक्ति में तो होते हैं आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए भी अपरिहार्य हैं। गीता में इन गुणों को बार-बार दुहराया गया है।^२ याग दर्शन में इन्हीं नैतिक गुणों की चर्चा हुई है जो योगी के लिए अनिवार्य है। गीता ने इन नैतिक गुणों को 'दैवी सम्पद' के रूप में वर्णित किया है। हिन्दू धर्म में इन नैतिक गुणों का पालन धर्म और अभ्यास के लिए अपरिहार्य है। हिन्दू धर्म

१. गीता-२/५४-६१।

२. गीता- १०/४-५, १२/१३-२०, १८/५२-५४।

विश्व के प्रमुख धर्म

में नैतिकता साधन भी है और साध्य भी, क्योंकि नैतिक गुणों में परिपूर्ण व्यक्ति ही 'स्थित प्रज्ञ' आध्यात्मिक पुरुष, योगी और ज्ञानी तथा भक्त है। हिन्दू धर्म की अनिवार्यता है कि अनैतिक गुणों से युक्त व्यक्ति चाहे कितना भी ईश्वर-भक्ति का स्वाँग करें परन्तु वह धार्मिक नहीं कहा जा सकता। देवी सम्पद के विपरीत आसुरी सम्पद का उल्लेख करके गीता ने यह सिद्ध किया है। हिन्दू धर्म में वर्णित नैतिकता या दैवी सम्पद का उल्लेख इस प्रकार है-

अहिंसा सत्यम क्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।

दयाभूतेष्वलोलुप्तवं मार्दवं ही हीरचापलम् ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।

भवन्ति संपदं दैवीभिजातस्य भारता ॥ गीता- १६/२-३

अधार्मिकता या अनैतिकता के विषय में अथवा गीता के आसुरी सम्पद वाले व्यक्ति के विषय में कहा गया है-

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य पथि संपदामासुरीम् ॥

गीता आगे भी अनैतिक गुणों का उल्लेख करती है जो अकरणीय हैं।^१

हिन्दू धर्म की शाखाएँ- प्रशाखाएँ (वैष्णव, शैव एवं शाक्त धर्म)- हिन्दू धर्म को सामान्य रूप से इन तीन पहलुओं में देखा जा सकता है- वैदिक, दार्शनिक और पौराणिक। इसी को हमने चार कालों में बाँटा है- वैदिक युग, आचार्य युग, भक्ति युग और आधुनिक युग। आचार्य युग में विभिन्न आचार्यों ने हिन्दू धर्म-ग्रन्थों की टीकाएँ करके अपने-अपने दर्शन का प्रतिपादन किया है। वैदिक साहित्य और उसकी दार्शनिकता को उतनी लोकप्रियता न मिली जितनी मिलनी चाहिए थी। सम्भवतः दर्शन की सूक्ष्म और तत्त्व-निरूपण सम्बन्धी बातें पुराणों के माध्यम से कही जाने लगीं। यह पुराणों का ही फल है कि हिन्दू धर्म में भक्ति की रसधारा प्रवाहित हुयी, जिसके फलस्वरूप हिन्दू धर्म की अनेक शाखाएँ देखी जाती हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं हुआ कि हिन्दू धर्म के मूलभूत सिद्धान्त परिवर्तित कर दिये गये या कोई नवीन धर्म हो गया। ज्ञान की शुष्क और कठोर चिन्तन की अपेक्षा भक्ति से सहजता, सरलता, स्वाभाविकता और उत्साह दिखाई दिया। सूक्ष्म, गुह्य, परम तत्त्व जो अद्वैत और निगुण है वही पुराणों के माध्यम से अनेक देवी-देवताओं के रूप में प्रकट

१. गीता- १६/४-८१।

हिन्दू धर्म

किया जाने लगा। इनमें से प्रमुख हैं कृष्ण, राम, शिव, गणेश एवं काली। अवतारवाद को स्वीकार किया गया। अनेक अवतारों की कल्पना की गई। पुराणों में साहित्य, इतिहास, काव्य, दर्शन, ईश्वरीय शास्त्र सबका मिश्रण देखा जाता है। महाभारत, रामायण और भागवत धर्म ग्रंथ इतिहास और साहित्य एक साथ ही हैं। अठारह पुराणों का धर्म की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्व है क्योंकि इन्हीं के आधार पर हिन्दू धर्म की अनेक शाखाएँ बनीं। मूल रूप से वैष्णव धर्म, शैव धर्म एवं शाक्त धर्म हिन्दू धर्म में विशेष स्थान रखते हैं। वैष्णव धर्म में कृष्ण शाखा और राम शाखा का प्राधान्य है। कृष्ण या राम परम ब्रह्म हैं, उनसे एकत्व प्राप्त करने का एकमात्र साधन भक्ति है। दक्षिण भारत में ११वीं शताब्दी में आलवार भक्तों ने भक्तिधारा प्रावाहित की। पुनः पन्द्रहवीं सदी के अन्त में महाप्रभु चैतन्य ने बंगाल में नवद्वीप से कृष्ण-प्रोम को कीर्तन-भजन के माध्यम से देश के कोने-कोने में फैला दिया। इसी कृष्ण भक्तिधारा का फल यह हुआ कि अनेक भक्त-सन्त एवं कवि उत्पन्न हुए- जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, तुकाराम, सूरदास, मीरा आदि। चार वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना हुयी- श्री सम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय, सनकादि सम्प्रदाय और रुद्र सम्प्रदाय। कृष्ण शाखा की तरह राम शाखा का भी प्रादुर्भाव हुआ है। क्योंकि विष्णु के अवतार के रूप में ही इनको माना जाता है। राम त्रेता युग के अवतार है और कृष्ण द्वापर युग के। राम की कथा का वर्णन सर्वप्रथम बाल्मीकि रामायण में मिलता है। बाल्मीकि आदि कवि माने जाते हैं। राम मर्यादा के रूप में माने जाते हैं। ११वीं शताब्दी में रामानुज ने राम और कृष्ण दोनों को विष्णु के अवतार के रूप में माना है। १४वीं शताब्दी में रामानन्द ने राम के देवत्व को स्वीकार किया और उनसे उनके शिष्य कबीर ने शिक्षा ग्रहण की। सिक्खों के धर्म ग्रंथ 'गुरुग्रंथ साहेब' में राम की चर्चा की गई है। महाप्रभु चैतन्य ने 'राम' और 'हरि' को अपने कीर्तन में एक साथ ग्रहण किया है। बंगाल में कीर्तिवास ने १४वीं शताब्दी में राम की उपासना को प्रसिद्धि दी। उनका रामायण बंगला भाषा में आज भी अधिकांश लोगों द्वारा पढ़ा जाता है। हिन्दी में तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' लिख कर सम्पूर्ण देश में राम की उपासना को सबसे अधिक महत्व दिया है। आज रामचरित मानस का घर-घर में पाठ होता है। अरनोल्ड ने जैसा कहा है कि धर्म का संस्पर्श संवेग से होना चाहिए, उनका यह कथन हिन्दू धर्म में पौराणिकता से चरितार्थ हुआ है। वेदों का यज्ञ-याग, बलि, कर्मकाण्ड और गूढ़ तत्व-दर्शन अब जनता के हृदय से सम्बन्धित हो गया।

विष्णु-पूजा के समान ही हिन्दू धर्म में एक अन्य देव की पूजा भी प्रचलित हुयी जो अनेक रूपों में और चरित्रों में प्रसिद्ध है। वह देव है शिव! शिव का महत्व विष्णु से

विश्व के प्रमुख धर्म

कम नहीं है। हिन्दू विष्णु और शिव की पूजा समान रूप से करते हैं। यह माना जाता है कि विष्णु और शिव एक ही परसत्ता के दो रूप हैं। एक रक्षक और दूसरा विनाशक। जिस प्रकार सृष्टि आवश्यक है उसी प्रकार विनाश भी। दयालु ईश्वर के विनाश की क्रिया को शिव या शुभ के नाम से अभिहित किया गया है। शिव सृष्टि-कर्ता और विनाश-कर्ता दोनों हैं। वह काल (समय) तथा मृत्यु के स्वामी हैं, इसलिए महाकाल कहा जाता है। उन्हें महेश्वर भी कहा जाता है। शिव त्याग और सन्यासी के प्रतीक हैं। आशुतोष हैं। शीघ्र ही प्रसन्न होकर भक्तों को वरदान देने वाले हैं। शिव की लिंग के प्रतीक के रूप में रखा गया है।^१ सम्पूर्ण देश में शिव मन्दिर से अधिक किसी देव का मन्दिर नहीं प्राप्त होता। प्रत्येक गाँव और शहर में शिव मन्दिर मिलेंगे तथा उसमें शिव लिंग की स्थापना होगी। हिन्दू धर्म में शिव अत्यधिक लोकप्रिय हैं। कहा जाता है कि शिव पूजा की बहुत बड़ी प्रेरणा शंकराचार्य से प्राप्त हुई। शंकराचार्य हिन्दू धर्म के सबसे बड़े व्याख्याता और प्रचारक थे। जैन तथा बौद्ध धर्म को समूल नष्ट कर देने तथा हिन्दू धर्म को संरक्षित करने के लिए अद्वैतवाद होते हुए भी भारत की चारों सीमाओं पर चार मठों की स्थापना की। हिन्दुओं में यह भी प्रचलित है कि शंकराचार्य शंकर के अवतार हैं। शंकराचार्य दक्षिण भारत के नम्बूदरी ब्रह्मण थे। ९वीं शताब्दी में मनिक्का बाकागार ने जो एक तामिल भक्त कवि थे, वैष्णव भक्तों और कवियों की तरह शिव की स्तुति-गान की। उन्होंने शिव भक्ति को अनुपम ढंग से प्रस्तुत किया है। कश्मीर में शैवधर्म ९वीं शताब्दी तथा १०वीं शताब्दी में फैला। वहाँ इसकी दो शाखाएँ हैं- स्पन्दशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञशास्त्र। स्पन्दशास्त्र सम्प्रदाय के संस्थापक वसुगुप्त की तरह शिव भक्ति को इतना अधिक महत्व प्रदान किया कि शिव महादेवों की श्रेणी में माने जाने लगे और सम्पूर्ण देश में शिव भक्ति की लहर फैल गई। इसी का परिणाम है कि शिव के साथ शक्ति की पूजा भी अनिवार्य हो गयी। यह माना जाने लगा कि शिव, शक्ति के बिना शव हो जाते हैं।

शिव की पत्नी की पूजा अनेक नामों और रूपों में की जाने लगी। इस प्रकार शिव की शक्ति की पूजा करने वाले शाक्त कहे जाने लगे और फिर हिन्दू धर्म में शाक्त धर्म का भी उद्भव हुआ। शाक्त धर्म भी प्राचीन और सर्वव्यापक है। शाक्त की आराधना केवल भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी पायी जाती है। प्राचीन बाइबिल में 'अशटोरेथ' को एक १. लिंग का अर्थ 'अमरकोष' के अनुसार है- लिंग और चिन्ह (लिंग चिन्ह सेप्ययोः), मेदिनी कोष के अनुसार-शिव का एक रूप, न्याय शास्त्र के अनुसार 'कारण'। निःसंदेह शिव विश्व के कारण हैं। महाभारत में (अश्वमेघ पर्व) लिंग को आध्यात्मिक वस्तु माना गया है- 'प्रजनो सर्वभूतानाम्, उपास्थोऽध्यात्ममुच्यते'।

हिन्दू धर्म

प्रजनन की देवी के रूप में माना जाता है। वह सृष्टि और विनाश की शक्ति है ठीक इसी शक्ति की समानता, काली या दुर्गा जो शिव की पत्नी हैं, से मिलती है। दुर्गा जगन्माता है। महाकाली भी हैं।

सभी धर्मों में ईश्वर को विभिन्न मानवी सम्बन्धों में से माना गया है। यहूदी पिता के रूप में, वैष्णव और सूफी प्रेमिका के रूप में^१ मानते हैं। उपनिषदों में आत्मा को पुत्र, धन तथा संसार की अन्य वस्तुओं से भी अधिक प्रिय माना गया है। परन्तु हिन्दू धर्म में ईश्वर को माता के रूप में भी माना गया है। इस मातृभाव में सुरक्षा, प्रेम तथा शक्ति की भावना निहित है। शाक्त धर्म में देवी की आराधना के कई तरीके अपनाये जाते हैं। नर बलि से लेकर पंच मकार^२ तक का उपयोग किया जाता है। तन्त्रशास्त्र में बाममार्गी एवं दक्षिण मार्गी साधकों का उल्लेख मिलता है- जिनमें बाममार्गी, माँस, मंदिरा, मैथुन आदि साधनों का उपयोग करते हैं। बंगाल और असम में तन्त्रवादियों ने जिन्होंने शक्ति की उपासना को महत्व दिया, इन साधनों का उपयोग किया है। परन्तु दूसरी ओर एक ऐसा भी वर्ग मिलता है जो शक्ति की उपासना केवल मातृभाव से करता है। वीर भाव की साधना अत्यन्त कठिन है। इसमें साधक पतित भी हो सकता है। शक्ति साधना में धीरे-धीरे बौद्धिकता एवं आध्यात्मिकता का भी प्रवेश हुआ, जिसके फलस्वरूप बलि और कर्मकाण्डों की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। उसके उदाहरण सन्त रामप्रसाद के भागवती गीत से मिलते हैं। कमलाकान्त और राम प्रसाद के गीतों में शुद्धाभक्ति ही दृष्टिगत होती है। सबसे अद्भुत उदाहरण तो दक्षिणेश्वर के अवतारी पुरुष श्री रामकृष्ण के जीवन और साधनाओं से मिलता है, जिन्होंने जगन्माता से शुद्धाभक्ति की। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि भागवती माता के चरणों में शुद्धाभक्ति से ही उनकी कृपा प्राप्त हो जाती है। उनको प्रसन्न करने के लिए बलि तथा कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं है।

अन्य धर्मों की भाँति हिन्दू धर्म में भी देव स्थानों का दर्शन आवश्यक है। निश्चित तिथियों पर तीर्थ स्थानों का दर्शन, स्नान-पूजन, व्रत उपवास, कीर्तन-भजन आदि क्रियाएँ हिन्दू धर्म के आवश्यक अंग हैं। संभवतया धर्म की क्रियायें ही उसकी गतिशीलता के तत्व हैं। हिन्दू धर्म सनातन धर्म है। उसकी सनातनता, गतिशीलता इन्हीं तत्वों के कारण ही बनी हुई है। ऐसा नहीं है कि इस धर्म में गतिरोध न आया हो, इसमें बुराइयाँ न उत्पन्न हुई हों या

१. ईश्वर प्रेम की प्राप्ति पंच भाव से की जाती है- शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य, और मधुर भाव। साधक इनमें से किसी एक या सभी भावों से साध्य ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है।

२. माँस, मंदिरा, मत्स्य, मैथुना और मुद्रा।

विश्व के प्रमुख धर्म

उनका विकृत रूप उभड़कर न आया हो। इसमें कुछ दोष समय के साथ आते रहते हैं। इसके लिए धर्म सुधारकों ने बीच-बीच में प्रयास भी किये हैं, प्रतिक्रियाएँ भी हुई हैं, बाह्य आक्रमण भी हुए हैं। यही कारण है कि आधुनिक युग की मनोवृत्ति के अनुरूप हिन्दू धर्म को गढ़ने के लिए बड़े-बड़े सुधारक उत्पन्न हुए। ब्राह्मण समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज आदि संस्थाओं का उद्भव हुआ। इसमें संदेह नहीं है कि हिन्दू धर्म में विकृतियाँ आ चुकी थीं। धर्म में निहित अर्थ को हिन्दू जनता भूल चुकी थी। धर्म के क्षेत्र में रूढ़िवादिता और अन्धविश्वास का पूर्णतया प्रवेश हो चुका था। धर्म रसोईघर तक ही सीमित हो गया था। खान-पान या कुछ निश्चित नियमों के पालन तक ही धर्म का लक्ष्य हो गया था। वेद-उपनिषद और वेदान्त की साधना के स्थान पर धनिक वर्ग को मन्त्रदान करके धनोपार्जन करना, उनकी प्रशंसा करना धर्म बन चुका था। देश में विदेशी शासन के कारण ईसाई धर्म का प्रवेश हो गया और ईसाई धर्म प्रचारकों ने हिन्दू धर्म की निन्दा करना आरम्भ कर दिया। इधर ईसाई धर्म का प्राचार और उधर हिन्दू धर्म की विभिन्न शाखाओं में ही आपस में द्वन्द्व कि साकार-निराकार की उपासना में कौन श्रेष्ठ है? इसके निर्णय में हिन्दू धर्म सिर धुन रहा था। विदेशी साहित्य, धर्म और दर्शन से प्रभावित, अंग्रेजी भाषा और सभ्यता के रंग में रंगे वर्तमान सरकार को प्रसन्न करने वाले देश के धनी-मानी व्यक्ति अपने ही धर्म और समाज को घृणा की दृष्टि से देखने लग गये। नास्तिकता का प्राचार होने लगा। अपने ही देश के पढ़े-लिखे नवयुवक विदेशी बन गए। पाश्चात्य विचारधारा के प्रवेश से भौतिकवादी जीवनादर्श प्राबल हो रहा था। फलस्वरूप देश की आध्यात्मिक चेतना संदेहवाद और अज्ञेयवाद के चंगुल में छटपटा रही थी। मूर्तिपूजा घृणा और अनादर का विषय होकर तिरस्कृत की जाती थी, ऐसे समय में पुनर्जागरण की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक समाज और धर्म सुधारक-प्रचारक आये। ब्रह्मसमाज की स्थापना हुई। राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर, केशव चन्द्र सेन आदि के प्रचार-कार्य कुछ शिक्षित लोगों तक ही सीमित रह गए। स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्य समाज के साथ आए और हिन्दू जनता को वेदों की ओर लौट जाने की प्रेरणा दी परन्तु वह कार्य-सिद्धि में सफल न हो सके। आर्य-समाज कर्म-काण्ड तथा आचार तक ही सीमित रह गया। इसी प्रकार अन्य आन्दोलन भी सामाजिक सुधारों एवं विधि-निषेधों तक रह गए। कहना न होगा कि इन संस्थाओं से कुछ सामाजिक सुधारों और धार्मिक क्रिया-कलापों को बल मिला, परन्तु हिन्दू जनता को जिस धर्म की आवश्यकता थी, जिससे वह विलग हो गयी थी, जिसकी क्षुधा और पिपासा से वह त्रस्त थी, वह नहीं मिल रहा था। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में ऐसे

हिन्दू धर्म

समय में तो “एक ऐसे व्यक्ति के उत्पन्न होने का समय आ गया था जो शंकराचार्य की महाबुद्धि एवं चैतन्य देव की तरह अद्भुत विशाल हृदय रखता हो। जो समस्त जीवों में उसी एक ईश्वरीय आत्मा को क्रियाशील देखता हो, जो समस्त लोगों में ईश्वर को देखता हा, जिसका हृदय दीन-दुखियों के लिए व्याकुल हो जाय, भारत या भारत से बाहर जो नीच, दुर्बल एवं पददलित लोग हैं, उनके प्रति कष्ट का अनुभव करने लगे। साथ जिनकी महान बुद्धि भारत एवं भारत के अन्यत्र देशों में विभिन्न संघर्ष-युक्त सम्प्रदायों में समन्वय के उच्च विचारों को धारण करती हो तथा सार्वभौम धर्म के अद्भुत समन्वय को मानसिक एवं हार्दिक रूप से वास्तविकता में परिणत करें।”^१ ऐसा व्यक्ति दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर का निरक्षर ब्राह्मण पुजाीर श्रीरामकृष्ण था। इसी श्रीरामकृष्ण ने ही जीसस क्राइस्ट की तरह हिन्दू धर्म में नवीनता उत्पन्न की। जैसे यहूदी धर्म की नवीन व्याख्या करके क्राइस्ट ने ईसाई धर्म की स्थापना की उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण ने हिन्दू धर्म किए गये पटाक्षेप का अनावरण करके एक विश्व धर्म की स्थापना की। श्री रामकृष्ण ने ही हिन्दू धर्म की स्थापना की। श्रीरामकृष्ण ने ही हिन्दू धर्म को आत्मा को पहचाना पण्डित नहीं ऋषि की तरह आत्मानुभूति करके हिन्दू धर्म का साक्षात् मूर्तिमान रूप ग्रहण किया। इनके पहले के जननायक, सुधारक और संस्थापक भले ही थे परन्तु धर्म में उनका अन्तःप्रवेश नहीं हो सक था। उनका कार्य समाज-सुधार था। वह कुछ अंशों में किया परन्तु धर्म को बिना आत्मसात किए जनता को समझाना सम्भव नहीं था। ब्रह्मसमाज और आर्य समाज के महान पण्डितों से श्रीरामकृष्ण का भेद प्रकट करते हुए श्री रामधारी सिंह ‘दिनकर’ ने अपने ‘संस्कृति के चार अध्याय’ में बड़े ही स्पष्ट और स्वतन्त्र भाषा में कहा है कि “ब्रह्म समाज की भक्ति ज्ञान की नोक से उठायी हुयी चीज थी। उद्देश्य ब्रह्म समाजियों का सामाजिक सुधार था; किन्तु अखाड़ा उन्होंने धर्म का चुना था। असल में ईसाइयों के मुख में अपने धर्म की निन्दा सुनते-सुनते वे लजा गये थे, किन्तु किसी प्रकार हिन्दुत्व की इज्जत ढकने के लिए उन्होंने धर्म का एक साधन खड़ा कर लिया था और अपने धर्म पर अचल विश्वास न रहने के कारण वे अधिकाधिक ईसाइयत की ओर ढुलके जा रहे थे। वस्तुतः उनका विश्वास हिन्दू ईसाई का विश्वास था। ऐसे लोगों में भक्ति की आकुलता उत्पन्न कहाँ से होती?

राममोहन राय, दयानन्द तथा केशव चन्द्र को यह दिखाई पड़ा कि हिन्दुत्व का समग्र रूप रक्षित होने के योग्य नहीं है। निदान ऋषि दयानन्द ने उतनी ही हिन्दुत्व को

१. स्वामी विवेकानन्द, कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द।

विश्व के प्रमुख धर्म

रक्षणीय माना जिसका आख्यान वेदों में मिलता है अर्थात् जिसमें मूर्ति पूजा नहीं है जिसमें तीर्थ व्रत, अनुष्ठान और श्राद्ध-पद्धति का अभाव है, जिसमें अवतारवाद, स्वर्ग-नरक, देवी-देवता कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार राममोहन राय ने उपनिषदों का पल्ला थामा और वे अद्वैत को लेकर बैठ गये। किन्तु हिन्दुत्व इतना ही नहीं है। उसके अन्दर उन समस्त विश्वासों का भी स्थान है जो अपार हिन्दू जनता के हृदय से घर किए हुए हैं। सच पूछिए तो दयानन्द और राममोहन राय ने जिस हिन्दुत्व की रक्षा की ओर जनता का विशाल भाग उत्साह हो नहीं दौड़ा। थियोसॉफी और आर्य समाज ने भी कार्य किया परन्तु जनता का मुक्त सहयोग किसको कहते हैं वह इन तीनों आन्दोलनों में किसी को नहीं मिला। हिन्दू और थियोसॉफी पंडित ईसाई और मुस्लिम पंडितों से विद्या का विवाद कर रहे थे; किन्तु जनता इस विवाद से रस लेने को तैयार नहीं थी।

भारतवर्ष की परम्परा है कि जहाँ जनता विद्या से आतंकित नहीं होती। पंडितों का वह सत्कार करती है उनकी पूजा और भक्ति नहीं। हम तर्क से पराजित होने वाली जाति नहीं हैं। हाँ कोई चाहे तो नम्रता, त्याग और चरित्र से हमें जीत सकता है। धर्म-धर्म चिल्लाने से धर्म का अर्थ नहीं खुलता, न मोटी-मोटी पोथियाँ रच देने से धर्म किसी के समझ में आता है। दयानन्द, रामाराममोहन राय तथा एनीबेसेंट के प्रचारों से यह तो सिद्ध हो गया कि हिन्दू धर्म निन्दनीय नहीं वरेण्य है, किन्तु जनता तो यह देखना चाहती थी कि धर्म की जीता जागता रूप कैसा होता है। धर्म का जीता जागता रूप उसे तब दिखायी पड़ा जब परमहंस श्रीरामकृष्ण का आर्विभाव हुआ।^१

श्री दिनकर जी के उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि हिन्दू धर्म की प्राचीनता में नवीनता उत्पन्न करने वाले संत और आत्मज्ञ महापुरुष श्रीरामकृष्ण ही हुए, जिन्होंने प्राचीन हिन्दू धर्म को ही चिर नवीन बनाकर विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। दिनकर जी ने तत्कालीन धर्म-सुधारकों और प्रचारकों तथा श्रीरामकृष्ण के बीच पंडित और संत का भेद माना है। इसी आधार पर उन्होंने श्रीरामकृष्ण की कुछ मूलभूत विशेषताओं पर इस प्रकार प्रकाश डाला है- दयानन्द भारतीय परम्परा के उद्भूत पंडित और विद्वान थे, किन्तु रामकृष्ण बहुत कुछ अनपढ़ मनुष्य थे। दयानन्द, राममोहन राय और केशव चन्द्र मैदान में इसलिये आये थे कि विधर्मियों की आलोचना से उन्हें चोट लगी थी। किन्तु श्रीराम कृष्ण को किसी भी धर्म वालों के प्रति कोई आक्रोश नहीं था। दयानन्द, राजाराममोहन राया और केशवचन्द्र संस्कृति के आन्दोलनकारी नेता थे, किन्तु श्रीरामकृष्ण को आन्दोलन से कोई

१. वही, पृ० ५७५

हिन्दू धर्म

सरोकार नहीं था। वे अपनी बातें सुनाने के लिये आश्रम से बाहर नहीं गये, न हिन्दुओं से उन्होंने कभी यह कहा कि तुम्हारा धर्म खतरे में है। उन लोगों को विद्या की प्राप्ति हुयी थी; परन्तु श्रीरामकृष्ण को अनुभूति की प्राप्ति हुई थी। यह उनके जवीन से ही प्रकट होता है।^१ इससे यह सिद्ध होता है कि श्रीरामकृष्ण धर्म सुधारक, प्रचारक, दार्शनिक या विद्वान नहीं थे। वे धर्म को तोड़ने, नष्ट करने नहीं आये थे, वरन् जीसस क्राइस्ट की तरह धर्म को गढ़ने और पूरा करने आये थे। ब्रह्म समाजी और आर्य समाजी हिन्दू धर्म का जहाँ एक ओर सुधार कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर उसको तोड़ रहे थे। स्वामी दयानन्द ने वेदों के अर्थों को तोड़ने-मरोड़ने का कार्य किया और किसी प्रकार एक नये सम्प्रदाय की स्थापना का प्रयास किया। इन धर्म सुधारकों ने ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दू धर्म की गई निन्दा के कारण मूर्ति पूजा, जो हिन्दू धर्म का जीवन आधार है, को ही तिलांजलि देना प्रारम्भ कर दिया। तीर्थ, व्रत, श्राद्ध-पद्धति, स्वर्ग-नरक, अवतारवाद, देवी-देवती आदि को हिन्दुत्व से निकाल कर के ही धर्म को नष्ट कर रहे थे। कुछ लोग हिन्दू धर्म को केवल अद्वैत ही मानते थे। शेष भाग नष्ट करके ही हिन्दू धर्म को संरक्षित समझते थे। धर्मों में विभेद करना भी उनका लक्ष्य था। हिन्दू, मुसलमान और ईसाई धर्म को अलग-अलग रखकर विवाद उत्पन्न करना उनका लक्ष्य हो गया था। सब कुछ मिलाकर यही देखने में आता है कि हिन्दू धर्म में जो टूट रहा था या उसमें जो युगानुकूल कमियाँ थीं उनकी पूर्ति रामकृष्ण ने की। उन्होंने ही धर्म को गढ़ा। श्रीरामकृष्ण ने ही वेद, उपनिषद, गीता, पुराण, स्मृति, साकार, निराकार ज्ञान, भक्ति, कर्म वैष्णव, शाक्त, सेवा-त्याग, तर्क अनुभूति गार्हस्थ सन्यास, सनातन, नवीनता सिद्धान्त व्यवहार, अद्वैत, द्वैत, ईश्वर-जगत देवी पूजा, नारी पूजा सभी उकी साधना की प्रयोगशाला में इस प्रकार एक हो गये कि उनको हिन्दू धर्म का अवतार कहना उसी प्रकार सत्य सिद्ध हो गया जिस प्रकार की क्राइस्ट के प्रति यहूदियों के इतने अत्याचार और विराधों के बार भी विश्व को उन्हें ईश-पुत्र, ईश-दूत या अवतार मानना पड़ा।



१. वही, पृ० ५७५, ७६।

इस्लाम धर्म

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और आधार- ऐतिहासिक दृष्टि से इस्लाम धर्म को विश्व के समस्त जीवित और जाग्रत महान धर्मों में, सिक्ख धर्म को छोड़कर, सबसे नूतन तथा लोकप्रिय धर्म कहा जाता है।

इसकी लोकप्रियता का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि इस धर्म में अनुयायियों की संख्या विश्व के अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक है। इस्लाम के अनुयायियों की संख्या सन् १९८४ में ५५,५२,७७,१८० थी।^१ इस्लाम धर्म का विकास स्थल अरब है। इसके प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब थे। इनका जन्म अरब के मक्का शहर में सन् ५७०ई. में हुआ था। ऐतिहासिकता की दृष्टि से विचार किया जाय तो विश्व के धर्मों को दो वर्गों में रख सकते हैं, एक सनातनी धर्म और दूसरा ऐतिहासिक धर्म। सनातनी धर्म के निश्चित काल का पता नहीं है कि उसकी उत्पत्ति कब और किसके द्वारा हुयी, जैसे हिन्दू धर्म सनातनी धर्म माना जाता है। ऐतिहासिक धर्मों की उत्पत्ति का निश्चित काल ज्ञात है और उसके संस्थापक ऐतिहासिक महान पुरुष भी धर्मों की उत्पत्ति का निश्चित काल ज्ञात है और उसके संस्थापक ऐतिहासिक महान पुरुष भी ज्ञात हैं। ऐतिहासिक धर्म की एक विशेषता यह भी है कि उनकी उत्पत्ति किसी पैगम्बर द्वारा की गयी है। पैगम्बर का अर्थ है, पैगाम (सन्देश) ले जाने वाला। हजरत मुहम्मद साहब ने ईश्वर का सन्देश मानव-जाति का दिया अतः उन्हें पैगम्बर भी कहा जाता है। जिस प्रकार यहूदी तथा ईसाई धर्म पैगम्बरवादी धर्म हैं उसी प्रकार इस्लाम धर्म भी पैगम्बरवादी धर्म कहा जाता है। जिस प्रकार बौद्धधर्म तथा जैन धर्मों की उत्पत्ति हिन्दू धर्म से मानी जाती है, उसी प्रकार इस्लाम भी यहूदी तथा ईसाई धर्मों को निकला हुआ माना जाता है। ऐसी मान्यता इसलिए है कि इस्लाम में उन दोनों धर्मों के तत्व निहित हैं। फिर भी इस्लाम की अपनी प्रमुख विशेषताएँ हैं। इस्लाम की सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें मनुष्य के जीवन और चरित्र में आश्चर्यचजनक परिवर्तन पैदा करने की अद्भुत और शक्तिशाली क्षमता है। प्रो० मैत्रा ने ठीक ही कहा है कि इस्लाम ने मनुष्यों के एक ऐसे वर्ग को जो काहिल, अज्ञानी तथा अन्ध-विश्वासी था उसे बहादुर, सुसंस्कृत

१. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका बुक, १९८४।

इस्लाम धर्म

तथा योद्धा बना दिया। इस्लाम में धर्म की वह गत्यात्मकता निहित है, जो अन्य किसी धर्म में इतनी अच्छी तरह वर्णित नहीं है।^१ इस्लाम अन्य पैगम्बरों को भी अस्वीकार नहीं करता। उसका अब्राहम, मूसा तथा क्राइस्ट में विश्वास जरूर है, परन्तु इन सभी पैगम्बरों में मुहम्मद साहब अन्तिम और सबसे अधिक शक्तिशाली पैगम्बर है। उनकी शिक्षाएँ अन्तिम हैं और मानव को उनकी शिक्षाओं को अवश्य ग्रहण करना चाहिए। इस्लाम की इस धारणा से यही पता चलता है कि यह एक स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाला धर्म है, जो मुहम्मद साहब द्वारा ईश्वर के संदेश के रूप में प्राचारित किया गया है, परन्तु इसके ऊपर अन्य पैगम्बरवादी धर्मों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जाता है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि इस्लाम और कुछ नहीं यहूदी धर्म का ही प्रातिरूप है और इसमें यहूदी धर्म के दस उपदेशों का व्यावहारिक रूप पाया जाता है। इसकी नैतिक शिक्षाएँ यहूदी धर्म के अनुरूप हैं। परन्तु ऐसी धारणा उपर्युक्त नहीं प्रतीत होती, क्योंकि यदि इस रूप में देखा जाय तो सभी धर्म कुछ अंशों में समानता रखते हैं। यही धर्मों की एकता है। इतना निर्विवाद है कि इस्लाम के पहले होने के कारण यहूदी तथा ईसाई धर्मों का प्रभाव इस पर स्पष्ट झलकता है। इस्लाम की यहूदी तथा ईसाई धर्म में समानता का मुख्य कारण यह है कि इनकी उत्पत्ति की जड़ एक ही है। तीनों धर्मों की एकता का एक ऐतिहासिक आधार वंश परम्परा के रूप में देखा जा सकता है। 'दिनकर' के 'संस्कृत के चार अध्याय' में इस परम्परा और सम्बन्ध का उल्लेख इस प्रकार किया गया है-

'एक तरह, से देखिए ता यहूदी धर्म में ईसाइयत और इस्लाम, दोनों का सम्बन्ध है। यहूदियों की तरह, ईसा और मुहम्मद की सामी जाति के सदस्य थे। सामी जाति घोर रूप से मूर्ति पूजक थी। मूर्ति पूजा छोड़ने का उपदेश उसे सबसे पहले हजरत इब्राहिम ने दिया जो यहूदियों के आदि पैगम्बर हुए हैं। चूँकि हजरत इब्राहिम ने मूर्तिपूजा का विरोध किया और एकत्ववाद की प्रथा चलायी, इसलिए मुसलमान भी उनकी पैगम्बरों में विश्वास करते हैं। इन्हीं हजरत इब्राहिम के खानदान में ईसा और मुहम्मद दोनों हुए हैं। हजरत दाऊद, ईसा और मूसा ये तीन पैगम्बर हजरत इब्राहिम के बड़े बेटे हजरत इसहाक के खानदान में हुए और हजरत और ईसा को पैगम्बर जरूर मानती है, लेकिन इस्लाम धर्म यह स्वीकार नहीं करता है कि हजरत ईसा परमात्मा के पुत्र थे। फिर भी इन पैगम्बरों के प्रति इस्लाम इस्लाम के बड़े ही आदरयुक्त भाव हैं। मुसलमान हजरत मूसा को 'कलीम-उल्लाह' (प्रभु से बात करने वाला) हजरत ईसा

१. दी डाइनामिक्स आफ फेथ, १२८।

विश्व के प्रमुख धर्म

को 'रुह-उल्लाह' (प्रभु की आत्मा) और हजरत मुहम्मद को 'रसूल-उल्लाह' (प्रभु का दूत) कहते हैं।^{१९}

इस्लाम का अर्थ- मुहम्मद फाथेल जमाली ने अपनी पुस्तक 'लेटर्स ऑन इस्लाम' में इस्लाम का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'इस्लाम स्पष्ट और सरल है, और समझने में आसान है। इसके मानने वाले ईश्वर से निर्देशित होते हैं, उनके हृदय विश्वास की ज्योति से प्रकाशित होते हैं, उनमें मतभेद नहीं होता। इस्लाम का शाब्दिक अर्थ होता है, मानव की ईश्वर (अल्लाह) के प्रति समर्पण।'^{२०} इस्लाम में मनुष्य अपने को ईश्वर के प्रति पूर्णतया समर्पित कर देता है। ईश्वर की इच्छा पर व्यक्ति निर्भर रहता है। यदि व्यक्ति सर्वशक्तिमान ईश्वर की इच्छा पर आध्यात्मिक, बौद्धिक, शारीरिक और यहाँ तक कि क्रिया के रूप में भी अपने को समर्पित कर देता है, तो वह सच्चा मुसलमान कहा जाता है। ईश्वर को समर्पित करने वाले व्यक्ति को ही पूर्ण शान्ति मिल सकती है। अतः इस्लाम शान्ति में प्रवेश करने वाला धर्म है। वैसे भी इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है शान्ति में प्रवेश करना। अतः कहा जाता है कि मुसलमान उस व्यक्ति को कहते हैं जो ईश्वर और मनुष्य के साथ पूर्ण शान्ति का सम्बन्ध रखता है। धर्मानुसार मुसलमान वह है, जो यह कहता है कि "अल्लाह (ईश्वर) को छोड़कर कोई दूसरा ईश्वर नहीं है और मुहम्मद उसके पैगम्बर (रसूल) हैं।"

(लाइलाइल्लिलाह मुहम्मदुरसूलिल्लाह) मुसलमान जब भी किसी कार्य का आरम्भ करे तो उसे ईश्वर का नाम सच्चे दिल से लेना चाहिए और कहना चाहिए कि 'असीम दयामय और कृपालु ईश्वर के नाम पर' (बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम)। केवल अल्लाह को मान लेने से ही किसी को सच्चा मुसलमान नहीं कहा जा सकता जब तक कि वह मुहम्मद साहब को अल्लाह का नबी, रसूल और पैगम्बर नहीं मानता नबी का अर्थ है किसी उपयोगी और परम ज्ञान की घोषणा। चूँकि मुहम्मद साहब ने ऐसे परम ज्ञान की घोषणा की थी, इसलिए उन्हें नबी कहा जाता है। नबी का दूसरा अर्थ दूत से भी लिया जाता है, जो ईश्वर और प्राणियों के बीच आता-जाता है। इस प्रकार मुहम्मद साहब पैगम्बर, नबी और रसूल (दूत) (अर्थात् ईश्वर और मनुष्य के बीच धर्म दूत) के रूप में जाने जाते हैं। इस्लाम में पाँच धार्मिक कर्तव्य निश्चित किए गए हैं-

१. कलमा पढ़ना (लाइलाइल्लिलाह मुहम्मदुरसूलिल्लाह) (यही कलमा इस्लाम के एकत्ववाद (तौहीद) को प्रकट करता है।

१. पृ० ५२२

२. पृ० २०-२१

इस्लाम धर्म

२. नमाज पढ़ना- प्रतिदिन पाँच बार प्रार्थना करना।
३. रोजा रखना- एक मास सूर्यास्त के बाद भोजन करना। रमजान का महीना पवित्र माना जाता है, क्योंकि इसी समय कुरान का अवरतण हुआ था।
४. जकात- अपनी सालाना आमदनी का ढाई प्रतिशत दान देना।
५. हज करना- तीर्थों में जाना। मक्का, मदीने तथा संतों की समाधि का दर्शन करना।

इन धार्मिक कृत्यों के आधार पर ही मु.जमाली ने इस्लाम की यथार्थवादी धर्म माना है। और इसे वह दैवी व्यवस्था कहा है जो मुसलमानों के जीवन को उसके सभी क्षेत्र में निर्देशित करता है। अर्थात् इसमें आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सभी पहलुओं का निर्देशन होता है और इसमें मत, कर्मकाण्ड सामाजिक व्यवस्था तथा नैतिकता सभी सम्मिलित हैं। इस्लाम धर्म समग्रता का धर्म (Totalist Religion) है। यह उन धर्मों से भिन्न है जो केवल मनुष्य के आध्यात्मिक पहलू तक ही सीमित है और भौतिक या ऐहिक जीवन को छोड़ देते हैं। इस्लाम सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओं जैसे फासीवाद, नाजीवाद अथवा साम्यवाद से भी भिन्न है। इस्लाम में व्यक्ति स्वतन्त्र होता है। वह किसी पार्टी या बाह्य शक्ति के अधीन नहीं रहता। इस्लाम में व्यक्ति केवल ईश्वर का भय मानता है। जब तक मनुष्य अपने सृष्टिकर्ता की आज्ञाओं का पालन करता है तब तक वह पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। इस्लाम एक जनतान्त्रिक व्यवस्था है। इसमें व्यक्ति पर नियन्त्रण बिना उसका दमन किये ही किया जाता है। इस्लाम मनुष्य को भय से मुक्ति दिलाता है। विवेक की स्वतन्त्रता की गारन्टी देता है तथा परस्पर सामाजिक निर्भरता का आह्वान करता है। इन सबके अतिरिक्त यह शान्ति का धर्म है- ऐसी शान्ति जिसकी स्थापना व्यक्तियों और देशों के बीच अधिकार तथा न्याय के आधार पर की जाती है। पवित्र कुरान की निम्नलिखित आयत में (II-१७७) इस्लाम के मूल मन्तव्य को पूर्णतया प्रदर्शित किया गया है। इसे ही इस्लाम का आधार कहा जा सकता है। आयत में कहा गया है- 'पवित्रता यह नहीं है कि तुम अपना मुख पूरब की तरफ करे या पश्चिम की तरफ, वरन् पवित्रता इसमें है कि तुम ईश्वर में, अन्तिम न्याय के दिन में, देवदूत में, कुरान में तथा पैगम्बर में विश्वास करो तथा प्रेम से ईश्वर को अपनी सम्पत्ति अर्जित करो। अनार्थों, गरीबों, भिखारियों तथा अभाव में रहने वालों की सहायता करो। प्रार्थना करो। दुखियों, बीमारों की सहायता करो।' इसी तरह अन्यत्र (कुरान-सार-बिनोबा, २६२-१) में कहा गया है कि 'तुम ईश्वर की भक्ति करो और उसके साथ किसी को भागीदार न बनाओ। माता-पिता के

विश्व के प्रमुख धर्म

साथ सुजनता का बर्ताव करो। संगे-सम्बन्धियों, अनाथों, अकिंचनों, परिचित पड़ोसियों, अपरिचित पड़ोसियों, सह-प्रवासियों और प्रवासियों के साथ अच्छा बर्ताव करो। उनके साथ भी जो तुम्हारे अधीन (दास-दासी) हैं। निःसंदेह - ईश्वर को इतराने वाले आत्मश्लाघी नहीं भाते।'

निश्चित रूप से इन आयतों में इस्लाम की मुख्य शिक्षाएँ निहित हैं, जो इस्लाम की वास्तविकता को प्रकट करती हैं। इनसे मानव की एकता की बात प्रकट होती है। मु. जमाली का कहना उचित है कि इन आयतों में इस्लाम धर्म के समाजिक तथा नैतिक जीवन का आधार प्रकट होता है। इस्लाम में धर्म, कर्म तथा अध्यात्म का समन्वय स्पष्ट हो जाता है।^१

इस्लाम का प्रमुख आधार उसका पवित्र ग्रंथ कुरान है। कुरान का अर्थ है उच्चरित या पठित। कुरान में उन आयतों का संकलन है, जो मुहम्मद साहब के मुख से उस समय निकले जब वे समीप या ईश्वर सान्निध्य में रहते थे। इन आयतों को ईश्वर ने मुहम्मद साहब के पास देवदूतों के जरिये भेजा था। इनका संकलन बाद में हुआ। हदीस से भी इस्लाम धर्म के विषय में पर्याप्त ज्ञान मिलता है। इसमें मुहम्मद साहब के उपदेश संग्रहीत हैं।

मुहम्मद साहब तथा कुरान

मुहम्मद साहब के जीवन तथा उनकी धार्मिक अनुभूतियों के विषय में 'कुरान' तथा 'हदीस' द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है। माना जाता है कि कुरान सम्पूर्ण रूप में दैवी प्रकाशन (रेवेलेशन) है।^२ यदि हम कुरान की यथार्थता तथा विश्वसनीयता पर विचार करें तो देखेंगे कि कुरान कुछ अंशों में ही विश्वसनीय है। यद्यपि कुरान मुहम्मद साहब के जीवन काल में लिपिबद्ध नहीं हुआ- परन्तु इसके विषय में एक विशेषता यह है कि मुहम्मद साहब ने अपनी उपस्थिति में ही इसको याद करने या लिखने का आदेश दिया था।^३ यद्यपि मुहम्मद साहब पढ़े-लिखे न थे परन्तु उनके शिष्यों को लिखने की कला का ज्ञात थी। इतना अवश्य कहा जाता है कि पैगम्बर के समय कुरान का उचित रूप में संग्रह नहीं हुआ था वरन् जैसे-जैसे उनकी आयतें (पद) प्रकट होते थे, पैगम्बर उन्हें लेखक बुलाकर

१. वही, पृ० २२

२. दैवी प्रकाशन का अर्थ कुरान के सम्बन्ध में यह है कि ईश्वर के द्वारा ही कुरान की आयतें मुहम्मद साहब से कहलाई गई हैं। परन्तु रहस्यवाद की दृष्टि से हमारे अर्थ में रहस्यावाद अनुभूति है।

३. कुरान- ९६ : ४, तर्जुमा कुरान शरीक, मौलवी अहमद बशीर।

लिखवा देते थे या शिष्य उनके पास सदैव रहते थे, लिख लिया करते थे। इस प्रकार सम्पूर्ण कुरान हड्डियों, कपड़ों या खजूर की टहनियों पर लिखा गया, क्योंकि कागज उस समय तक विकसित नहीं हुआ था।^१

कुछ उलमा (विद्वानों) का ख्याल है कि पैगम्बर ने अपने जीवन में ही तमाम सूरतों को संग्रह कर लिया था और नाम भी रख दिया था। हदीसों से पैगम्बरों का नमाजों में सूरे बकरा, निसा और एराफ का पढ़ना भी साबित है, जिससे मालूम होता है कि सूरतों के नाम भी उन्होंने ही निश्चित कर दिये थे।^२ कुछ लोगों के विचार में कुरान का सम्पादन पैगम्बर के जमाने में हुआ क्योंकि कुछ लेखकों को इस बात का ध्यान था। अलहिलाल जजी जैदान मिस्र अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'तारीख तम्मुदुन 'इस्लामी' जिन्द तीन (अनुवादक असलम जैराजपुरी) में कहते हैं कि पैगम्बर के जीवन काल में कुछ माहवा को कुरान के संग्रह का ख्याल रहता था। इनमें खास-खास अलीबिन अवीतालिब, सादबिन उवेद, माजबिन जबल और अवीबिन काब थे।

परन्तु उनके जीवन काल में कुरान के संग्रह का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। इतना अवश्य प्रमाणित है कि मुहम्मद के जीवन काल में कुरान कंठस्थ भी किया गया था और साथ ही साथ कुछ अंश लिखे भी गए।^३ कुरान के लिखने के बारे में हजरत उस्मान का कहना है कि पैगम्बर के ऊपर जब कोई आयत प्रकट होती थी तो वे तुरन्त किसी लेखक को बुलाकर लिखवाते और यह बतला देते थे कि यह आयत फलां सूरत की है और इसके बाद और इसके पहले लिखो। कुरान में भी आयतों के लिखने का संकेत मिलता है।^४ कुछ लोगों का कहना है कि लगभग ४२ व्यक्ति पैगम्बर के पास लेखक के रूप में रहते थे।^५

उपर्युक्त कथनों से यही सिद्ध होता है कि कुरान के अधिकांश भाग असंगठित रूप में लिखे हुए थे और कुछ अंशों का संरक्षण स्मृति के रूप में ही रहा है। वास्तव में पैगम्बर के जीवन काल में ही कुरान को कंठस्थ कर लिया था और वह उसी क्रम में कंठस्थ किया गया था जिस क्रम में हम आज कुरान को देख रहे हैं।^६

१. अब्दुल वहीद खॉ- तारीख अफकारोसया सियाते इस्लामी, पृ० १३५

२. वही, पृ० १३५

३. मुहम्मद जफरुल्ला खॉ- रिलीजस परस्पैक्टिव वालूम सात, इस्लाम इट्स मीनिंग फार माडर्न मैन, पृ० ८४।

४. कुरान, २९ : ४९।

५. मौलाना मुहम्मद अली- अनुवादक, द होली कुरान, भूमिका, पृ० ३७

६. मुहम्मद जफरुल्ला खॉ-इस्लाम, पृ० ८३

विश्व के प्रमुख धर्म

स्मृति को कुरान की संख्या इसलिए भी अधिक संभव है कि मुहम्मद साहब ने स्वयं इस बात पर बल दिया था। यही नहीं धार्मिक ग्रन्थ मानकर तथा ईश्वर द्वारा उतरी हुई जानकर इसको कंठस्थ करना लोगों ने अपना धर्म मान लिया था। कुरान को याद कर लेना और लोगों को बताना भी आवश्यक समझा गया था, इसीलिए स्मृति द्वारा इसकी सुरक्षा समझी जा सकती है। यह इसलिए भी संभव है कि कुरान का अवतरण या प्रकाशन तेईस वर्षों के अन्तर्गत क्रमशः हुआ था। अतः लोगों को याद करने का समय पूर्णरूप से प्राप्त हुआ होगा। स्वयं मुहम्मद साहब को कुरान याद था जिससे उन्होंने लोगों के समक्ष बाद करने का उदाहरण उपस्थित कर दिया था। यह भी प्रमाण मिलता है कि प्रार्थना की दृष्टि से व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में कुरान का याद होना आवश्यक था। बुखारी से पता चलता है कि अनेक व्यक्ति ऐसे थे जिन्हें कुरान पूर्ण रूप से कंठस्थ था। कंठस्थीकरण में यह शंका नों की जा सकती कि कुरान में कुछ अपनी तरफ से जोड़ दिया गया हो। क्योंकि स्वयं पैगम्बर ने यह संकेत दे दिया था कि कौन-सी आयत किस आयत के पहले और बाद में होगी। और इसी के आधार पर कुरान का सम्पादन किया गया। यद्यपि इसमें काल क्रम नहीं है फिर भी इसके कुछ अंशों में विश्वसनीय कहा जा सकता है।^१

क्योंकि देखने से पता चलता है कि मुसलमानों की स्मृति-परम्परा किसी अर्थ में कम न थी। अधिकांश व्यक्तियों को कुरान कंठस्थ था। पूरा कुरान उतारने में यद्यपि अधिक समय लगा, परन्तु जो आयतें उतरती थीं उन्हें लोग याद कर लिया करते थे और उसी आधार पर बाद में कुरान का संकलन एवं सम्पादन हुआ।^२

हदीस- पैगम्बर के जीवन के विषय में जानने का दूसरा साधन हदीस है। उसमें उनके समय का पूरा इतिहास चित्रित है। हदीस में पैगम्बर की क्रियाओं और कथनों का चित्रण मिलता है। यद्यपि कुरान से मुहम्मद साहब की धार्मिक अनुभूतियों और चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, परन्तु उने जीवन की अन्य बातें हदीस से ही ज्ञात होती हैं। हदीस इस दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण है। परन्तु हदीस के संग्रह की ओर कई कारणों वश दूसरी शती हिजरी तक ध्यान न दिया जा सका। हदीस और कुछ नहीं पैगम्बर तथा उनके शिष्यों का कथन है। पैगम्बर जब तक जीवित थे तो उनके चारों ओर उनके अनुगामी घेरे रहते थे और उनसे जो कुछ सुनते या करते देखते उसको दूसरों तक पहुँचाते। इस तरह उनके

१. जेम्स हार्विस्टगम- एडीटर, एनसाक्लोपीडिया आफ रिलीजन ऐण्ड एथिक्स, वालूम ८, पृ० ८७२

२. ए.एम.ए. शास्त्री- आउटलाइंस आफ इस्लामिक कल्चर, पृ० ४५४-४५६

इस्लाम धर्म

जीवन का प्रत्येक पक्ष लोगों के सामने रहता था। परन्तु बात यह थी कि हदीस का बहुत कम बयान किया जाता था। स्वयं पैगम्बर का आदेश था कि हदीस का बयान किया जाय।^१ बहुत से अनुगामी इस भय से कि कहीं हदीस में गलती न हो जाय हदीसों के बयान से बचते थे। पैगम्बर ने हदीस को लिखने से सख्त मना कर दिया था और सचेत कर दिया था कि जिस किसी ने कुरान के अतिरिक्त कुछ लिखा हो उसे मिटा डाले। यद्यपि अबू होरैरा और अब्दुल्ला (अम्र के पुत्र) के विषय में यह प्रमाणित है कि वे जो कुछ उनसे सुनते थे लिख लिया करते थे। अबू शाह की प्रार्थना पर “खुतबए-यमन”^२ को जरूर लिखवाया था लेकिन इसके अतिरिक्त एक सामान्य आदेश यही था कि हदीस को न लिखा जाय। यदि जबानी किसी को सुना दिया जाय तो आपत्ति नहीं। पैगम्बर के इस आदेश के सही होने में किसी को इन्कार नहीं है। यह अवश्य है कि इसके मतलब में लोगों में मतभेद पाया जाता है। जिससे कोई इसे विश्वसनीय मानता है और कोई इसको अनर्गल और झूठा मानता है। कुछ भी हो पैगम्बर का हदीस को न लिखने का आदेश सम्भवतः इसलिए रहा कि कहीं हदीस व कुरान आपस में एक दूसरे से मिल-जुल न जायँ।

कारण कुछ भी हो यह निश्चित है कि पैगम्बर की मृत्यु के समय मुसलमानों के निर्देशन के लिए सिर्फ कुरान एकमात्र पुस्तक थी और दूसरी और हदीस के रूप में पैगम्बर के कथन जो पुस्तक के रूप में संकलित नहीं थे। परन्तु ये कथन लोगों की स्मृति तथा व्यवहार में अवश्य थे।^३

हजरत उमर ने भी हदीस बयान करने से मना किया। “सिबली” ने ‘अन्नोमान’ में ‘जहवी’ का यह कथन लिखा है कि हजरत उमर इस डर से हदीस बयान करने वाला पैगम्बर के बारे में गलत बयान न कर दें; साहबा को आदेश देते थे कि हदीस का कम से कम बयान किया करें।^४ उमर ने हदीस के बयान करने का विरोध यहाँ तक किया कि यदि उनके पास कोई लिखित रूप से हदीस लाता था तो जलवा दिया करते थे।^५ परन्तु अन्तोगत्वा ऐसी दशा बहुत दिनों तक न चली। बाद में चलकर हदीसों का बयान करने में अधिकता शुरू हो गयी और “बनूउमैया” के काल में हदीस की संख्या लाखों तक पहुँच

१. अब्दुल वहीद खॉं- तारीख अफकारों सयासियाते इस्लामी, पृ० २३०

२. एक भाषण जो यमन के लोगों के सामने पैगम्बर ने दिया था।

३. वही, पृ० २१७

४. वही, पृ० २१८

५. तबकात इब्नेसाद, पाचवाँ भाग-पृ० १४०, तारीख अफकारों सयासियाते इस्लामी पृ० २१९ पर, उद्धृत।

विश्व के प्रमुख धर्म

गयी तथा लिखने का काम भी प्रारम्भ हो गया। “अब्बासिया” काल में हदीस का संग्रहण रूप में होने लगा और हदीस के संग्रह का काम बराबर शुरू रहा। ऐसा समझा जाता है कि पुस्तकों की संख्या कई सौ तक पहुँची है। परन्तु इन सब में प्रमुख तीन पुस्तकें हैं।

१. अलमौता- लेखक मालिक इब्ने अनास।
२. सही बुखरी- मुहम्मद पत्र इस्माइल बुखारी।
३. सही मुस्लिम- मुस्लिम पुत्र हज्जाज, निसापूरी।

उपर्युक्त बयानों की दृष्टि से हदीस उतना विश्वासनीय नहीं कहा जा सकता जितना कि कुरान, क्योंकि हदीस के बयान करने की आज्ञा न होने से उसका महत्व कम हो जाना स्वाभाविक कहा जा सकता है और जिन्हें स्मृति भी रही होगी उनमें हेर-फेर भी होना स्वाभाविक था। इस दृष्टि से हदीस की विश्वसनीयता स्वल्प मात्रा में ही जान पड़ती है। अतः इसमें संदेह नहीं कि हदीस तथा कुरान विश्वसनीय तथा वैध माने जा सकते हैं। परन्तु मान्य श्रेणी के आधार पर इनकी विश्वसनीयता द्वितीय श्रेणी की ही मानी जा सकती है। क्योंकि अन्य धर्म ग्रन्थों की भाँति इसका संकलन मुहम्मद साहब के जीवन काल में नहीं हुआ, स्मृति के आधार पर इनको क्रम में रखकर बाद में संकलित किया गया।^१

मुहम्मद साहब-जीवन परिचय

मुहम्मद साहब के जन्म के पहले उनकी माता अमीनाह ने उनके आगमन का सुखद समाचार स्वप्न में पाया था। कहा जाता है कि उनके बाबा अब्दमुतालिब ने भी ऐसा स्वप्न देखा था कि किसी महापुरुष की उत्पत्ति अवश्य होगी। स्वप्न के ही आधार पर उनका नामकरण मुहम्मद हुआ। ‘मुहम्मद’ उनके बाबा द्वारा दिया गया नाम और अहमद उनकी माता द्वारा।^२ उनके जन्म की अन्य घटनाएँ भी रहस्यमयता प्रकट करती हैं।^३ जन्म के विषय में जो भविष्यवाणियाँ इनके पहले महान पुरुषों द्वारा की गई हैं, वे भी रहस्यमयता प्रकट करती हैं। जिस प्रकार अन्य लोगों के विषय में भविष्यवाणियाँ मिलती हैं और सत्य सिद्ध होती हैं^४ उसी प्रकार मुहम्मद साहब के विषय में भविष्यवाणियाँ हुईं और सत्य भी

१. यद्यपि सम्पूर्ण कुरान पैगम्बर के सहयोगियों और शिष्यों को क्रम तथा व्यवस्थित रूप में कंठस्थ था, परन्तु लिखित रूप में उसका कोई संग्रह ऐसा नहीं था जो प्रमाणिक हो। मौलाना मुहम्मद अली-द-होली कुरान, भूमिका, पृ० ५०

२. मौलाना मुहम्मद अली, ‘मुहम्मद, द ग्रेट प्राफेट’, पृ० ३७

३. वही, पृ० ३८-३९

४. धर्मशास्त्र, उत्पत्ति, १२ : १३, १७ : २०

इस्लाम धर्म

सिद्ध हुई जान पड़ती हैं। ऐब्राहिम, मूसा, यशायाह तथा क्राइस्ट द्वारा की गई भविष्यवाणियाँ इसके उदाहरण के रूप में हैं।^१

मुहम्मद साहब का प्रारम्भिक जीवन सद्गुणों से कितना सम्पन्न और व्यक्तित्व कितना संगठित रहा है, यह उनके तत्कालीन सहयोगियों से ज्ञात है। उनकी असाधारण नैतिकता, सच्चाई, प्रेम, सौहार्द, सेवा-भाव, विश्वसनीयता, कथनी-करनी में एकता आदि गुण बचपन से ही विद्यमान थे। अबूतालिब ने इनके इन्हीं गुणों के कारण व्यापार में इन्हें अपने साथ लिया। खदीजा ने उनके इन्हीं गुणों के कारण अपने अतुल धन को सौंपकर अपना कार्यकारी नियुक्त किया और बाद में अपना प्रेम अपिर्तक कर दाम्पत्य जीवन स्वीकार किया।^२ इनके जीवन की असाधारणता इस बात में है कि सामान्य मनुष्यों में इस प्रकार के लक्षण बहुत कम प्राप्त होते हैं।

परम सत्ता के सान्निध्य तथा मार्ग प्रदर्शन के लिए मुहम्मद साहब दिन में एक बार 'हीरा' नामक पहाड़ की गुफा में, जो मक्का से कुछ मील दूर है, जाया करते थे। यहाँ प्रार्थना तथा ध्यान में मग्न रहते थे। फल (खजूर) तथा पानी पर रात-दिन व्यतीत कर दिया करते थे। उन्होंने अपने धार्मिक अनुभवों को खदीजा से आकर बतलाया भी। कुरान में भी उनके अनुभवों का वर्णन मिलता है।^३ उनका जीवन सतत् प्रार्थना करते थे, यहाँ तक कि उनके पैरों में सूजन आ जाती थी।^४ कहा जाता है कि उनकी साधना सतत् बनी रहती थी। गुफा में निश्चित ध्यान के पश्चात् भी ईश्वर का चिन्तन निरन्तर करते रहते थे।

इस्लाम धर्म की मूलभूत विशेषताएँ

इस्लाम धर्म की अपनी कुछ मूलभूत विशेषताएँ हैं, जिनसे उनकी मौलिकता का पता चलता है। इस धर्म पर यद्यपि यहूदी धर्म का प्रभाव स्पष्ट है, फिर भी इस धर्म की पहचान इसकी समग्रता में है। यह मानव जीवन के समग्र पहलुओं को अपने में समेटे हुए है। सिद्धान्त और व्यवहार अलग-अलग नहीं है। विश्वास के रूप में यह सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करता है। धर्म के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन को अलग नहीं किया जा सकता। यह सामाजिक विधान भी है और कर्म-काण्ड भी है। यह लौकिक

१. कुरान, २ : १२४-१२९, प्राचीन धर्मशास्त्र-व्यवस्था, विवरण, १८ : १८, यशायाह २१ : १३-१५ जान, १४ : १५-१७, २६ : १३-१६।

२. मुहम्मद जफरुल्ला खाँ, इस्लाम, पृ० २०, तथा मौलाना अली, मुहम्मद दी प्राफेट, पृ० ४२-४८

३. कुरान, ४२ : ५१

४. मुहम्मद जफरुल्ला खाँ, इस्लाम, पृ० २३, २५, ६९, १०७

विश्व के प्रमुख धर्म

जीवन की बात करत है और पारलौकिक जीवन की भी। धर्म-ग्रन्थ कुरान जो कुछ भी कहता है, वह मानव जीवन की यथार्थता से सम्बद्ध है। इस्लाम की मूलभूत विशेषताओं पर निम्नलिखित रूपों में प्रकाश डाला जा सकता है-

(१). धार्मिक ग्रन्थ कुरान में आस्था- इस्लाम धर्म का पवित्र धर्म-ग्रन्थ कुरान है। इस्लाम को इसकी पवित्रता, अधिकारिता एवं प्रमाणिकता में पूर्ण विश्वास और आस्था है। इस्लाम का सम्पूर्ण ढाँचा इसी पर आधारित है। यह ईश्वर की वाणी है, जिसे ईश्वर ने देवदूत जिब्राइल द्वारा मुहम्मद साहब के पास भेजा था। यह अरबी भाषी में मौलिक रूप में सुरक्षित है। कुरान का शाब्दिक अर्थ है, 'उच्चरित होना', पूरा ग्रन्थ ११४ सुरों में बँटा है और प्रत्येक सुरे को आयतों में बाँटा है। इसमें धर्म के सभी विषयों तथा सामाजिक, आर्थिक जीवन से सम्बन्धित विचारों को विधिवत समझाया गया है; जैसे आत्मा, नरक, स्वर्ग, पाप, पुण्य, दान, सम्पत्ति, विवाह तथा अन्य सामाजिक कर्तव्यों की चर्चा की गई है। किसी कर्तव्यपालन में विवाद होने पर कुरान का देखा जाना अनिवार्य माना गया है। इसी से इस धर्म-ग्रन्थ की अधिकारिता और विश्वसनीयता की सिद्धि होती है। यह वह ग्रन्थ है जिसमें कोई संदेह नहीं, कल्याण मार्गियों का मार्ग दर्शक है।' कुरान दैवी प्रकाशन है। ऐसा पवित्र ग्रन्थ मनुष्य और जिन मिलकर भी नहीं बना सकते, यद्यपि इसके अवतरण में इनका सहयोग रहा है। यह महान और अत्यन्त पवित्र ग्रन्थ है।

(२). एकेश्वरवाद- इस्लाम धर्म एक और केवल एक ईश्वर में विश्वास करता है- जिसे 'अल्लाह' कहता है, इसलिए यह एकेश्वरवाद में आस्था रखता है। कुरान में कहा गया है- 'कह : ईश्वर एक है, ईश्वर निरपेक्ष है, वह न जनिता है न जन्य और न कोई उसके समान है।' इस्लाम एकेश्वरवाद पर उतना ही जोर देता है, जितना यहूदी धर्म में दिया गया है।

(३). पैगम्बर में विश्वास- इस्लाम में पैगम्बरों में विश्वास करने को कहा गया है। पैगम्बर वह है जो ईश्वर के सन्देश (पैगाम) को लेकर मनुष्य तक पहुँचाए। अनेक पैगम्बर हो चुके हैं- जैसे इब्राहिम, मूसा, ईसा आदि, परन्तु मुहम्मद साहब अन्तिम और महान माने जाते हैं। कुरान में पैगम्बर मुहम्मद साहब द्वारा कहलवाया गया है कि 'कह : ऐ लोगों, मैं तुम सबकी ओर उस परमात्मा का भेजा हुआ हूँ, जिसका आकाशों एवं भूमि में आधिपत्य है। इसके अतिरिक्त कोई नियन्ता नहीं, वही जिलाता है, वही मारता है। सो श्रद्धा रखता है और तुम उसका अनुसरण करो, जिससे कि तुम्हें मार्ग प्राप्त हो।' (३५२-१ कुरान-सार, विनोबा)

(४). स्वर्गदूत तथा अन्य आत्माओं में विश्वास- इस्लाम धर्म स्वर्गदूत या फरिश्तों तथा अन्य आत्माओं में भी विश्वास करता है। स्वर्गदूत सूक्ष्म शरीर से अस्तित्व में रहते हैं। ईश्वर ने इनकी रचना ज्योति से की है। इनमें स्त्री-पुरुष का भेद नहीं होता और न ये कुछ खाते-पीते ही हैं। इनका कार्य ईश्वर की स्तुति करना तथा उसकी आज्ञा का पालन करना बताया जाता है। ऐसे चार स्वर्गदूतों की चर्चा की गई है। इनमें 'जिब्राइल' का प्रमुख स्थान है, इनके द्वारा ईश्वर का सन्देश पैगम्बर तक पहुँचता है। इनमें 'मीकाईल' का नाम मुख्य है, इनका कार्य है, आयु पूर्ण होने पर मृत्यु देना। यही आत्मा को शरीर के मृत होने पर अलग करते हैं। 'इसतफील' महाप्रलय की सूचना तुरही बजाकर देते हैं। 'करामत' मनुष्य के शुभ कर्मों को लिखने वाले तथा 'कातिबीन' मनुष्य के अशुभ कर्मों का लेखा रखने वाले स्वर्गदूत हैं। कुरान में 'जिन' का भी नाम आता है। 'जिन' मनुष्य तथा फरिश्तों के बीच के जीव कहे जाते हैं। इनमें कुछ 'शुभ' हैं और कुछ 'अशुभ'।

मनुष्य को अशुभ कर्मों की ओर ले जाने वाले कुछ ऐसे प्राणी भी हैं जो स्वर्गदूत की तरह सब जगह चलते-फिरते पाये जाते हैं। इन्हें 'शैतान' की संज्ञा दी गई है। शैतान का प्रमुख सरदार 'इब्लिस' कहा गया है। शैतान ईश्वर की अवज्ञा करने के कारण स्वर्ग से बाहर कर दिया गया। कुरान में मनुष्य को शैतान से बचने के लिए आदेश दिया गया है। शैतान से बचने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए।

(५). न्याय-दिवस, स्वर्ग-नरक तथा पुनरुत्थान (Resurrection)- इस्लाम धर्म में मृत्यु के पश्चात् के जीवन में विश्वास प्रकट किया गया है। कुरान में न्याय-दिवस की बात कही गई है, जिस दिन मनुष्य के किये गये कर्मों के अनुसार ईश्वर न्याय करता है और उसे उसका अच्छा-बुरा परिणाम देता है। अच्छे कर्म वाले को स्वर्ग तथा बुरे कर्म वाले को नरक में डाल दिया जाता है। कुरान में कहा गया है कि न्याय-दिवस के दिन तुरही फूँकी जायगी, मुर्दे जिन्दा हो जायेंगे, यही पुनरुत्थान है। इस अवस्था की बात यहूदी और ईसाई धर्मों में ही कही गई है। सभी धर्मों की तरह इस्लाम धर्म में भी स्वर्ग-नरक की चर्चा मिलती है। शुभ या अशुभ कर्म करने वाले को क्रमशः स्वर्ग या नरक में स्थान मिलता है। मृत्यु के बाद पुनर्जन्म को इस्लाम में स्वीकार नहीं किया गया है।

(६). बहुदेववाद तथा मूर्ति-पूजा में अविश्वास- इस्लाम धर्म की यह भी विशेषता है कि यह बहुदेववाद तथा मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं करता। हजरत मुहम्मद साहब के पूर्व अरब में मूर्ति-पूजा तथा अनेक देवताओं की मान्यता, नर-बलि, व्यभिचार आदि बुराईयाँ प्रचलित थीं। इनके विरोध में ही इस्लाम ने एकेश्वरवाद की स्थापना की।

विश्व के प्रमुख धर्म

(७). भाग्यवाद और पूर्व नियतिवाद में विश्वास- इस्लाम धर्म चूँकि ईश्वर को सर्वोच्च स्थान देता है, इसलिए ईश्वर ही कर्ता माना गया है। 'वही हँसाता है, वही रुलाता है। वही मारता है, वही जिलाता है। उसी ने नर और नारी का जोड़ा बनाया है। वही समृद्ध करता है और वही परितृप्ति देता है।' (कुरान सार- ३७०-५-८)

इस प्रकार विश्व में जो भी कार्य होता है, ईश्वर द्वारा ही सम्पन्न कराया जाता है। मनुष्य के जीवन में भी ईश्वर की इच्छा से ही कार्य होता है। इस प्रकार कुरान भाग्यवाद तथा पहले से निर्धारित (पूर्व नियतिवाद) कार्य में विश्वास की बात करता है। कुरान में पूर्व-नियतिवाद में आस्था अवश्य व्यक्त की गई है, परन्तु स्थान-स्थान पर मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति की भी चर्चा मिलती है। उदाहरण के लिए कहा गया है कि 'जो मार्ग पर चलता है, वह अपने ही कल्याण के लिए चलता है और जो पथ-भ्रष्ट हुआ, वह अपने ही अकल्याण के लिए पथ-भ्रष्ट हुआ। कोई बोझ ढोने वाला दूसरे का बोझ नहीं ढोता।' (१७-१५) इससे यही सिद्ध होता है कि स्वतन्त्र इच्छा तथा मानव उत्तरदायित्व का इस्लाम में पूर्णतया विरोध नहीं किया गया है।

(८). इस्लाम धर्म नैतिक, धार्मिक, सामाजिक और मानववादी शिक्षा देता है- इस्लाम धर्म की विशेषता यह है कि यह केवल धर्म के सैद्धान्तिक पहलू पर ही जोर नहीं देता वरन् इसमें मनुष्य जीवन के लिए सामाजिक तथा नैतिक नियमों को भी निर्धारित किया गया है। इस्लाम समग्रता का धर्म है। इसमें परम शुद्धता, बन्धुत्व तथा मानवता की शिक्षा दी गई है।

(९). इस्लाम धर्म प्रार्थना (नमाज), उपवास (रोजा) तथा जकात की शिक्षा देता है- इस्लाम में कुछ ऐसे धार्मिक कर्तव्य हैं जिन्हें करना अनिवार्य है। जिस प्रकार शरीर भोजन से पुष्ट होता है, उसी प्रकार आत्मा ईश्वर की प्रार्थना से पुष्ट होती है। मनुष्य प्रार्थना से शुद्ध होता है, आध्यात्मिकता आती है, ईश्वर तक पहुँचता है, हृदय की शुद्धि होती है। इस्लाम धर्म में प्रार्थना वह अभ्यास है जिससे आध्यात्मिक, बौद्धिक, भावात्मक, नैतिक, सामाजिक और शारीरिक शक्ति मिलती है। बुराइयों से बचने की प्रार्थना की जाती है तथा साथ ही ईश्वर का आश्रय माँगा जाता है। मार्गदर्शन की याचना ईश्वर से की जाती है। विशेष रूप से शुक्रवार की प्रार्थना महत्वपूर्ण है। कुरान की यह प्रार्थना महत्वपूर्ण है- 'आकाशो तथा भूमि के स्रष्टा! तू ही इहलोक एवं परलोक में मेरा संरक्षक मित्र है। मुझे शरणावस्था में मृत्यु दे और मुझे सन्तों में सम्मिलित कर।' (कुरान सार, १२-१०१)

इस्लाम धर्म

प्रार्थना के अतिरिक्त रमजान के महीने में उपवास करना एक आध्यात्मिक व्यायाम कहा जा सकता है। सामाजिक दृष्टि से गरीबों और अनाथों की भावनाओं के साथ अन्तर्सम्बन्ध कायम करना है तथा मुसलमानों में एकता और समानता प्रदर्शित करना है। यह एक नैतिक व्यायाम इसलिये माना जा सकता है कि इससे मुनष्य की इच्छा (संकल्प) और आत्म-नियंत्रण को बल मिलता है। यह शारीरिक व्यायाम भी है, क्योंकि उपवास से भूख और प्यास सहन करने की आदत बनती है। सबसे बड़ी बात उपवास से यह सिद्ध होती है कि व्यक्ति ईश्वर के अधिक निकट होता है। उसकी आज्ञा का पालन करता है। रमाजान के महीने में कुरान का अवतरण हुआ था, इसलिए इस महीने में उपवास रखकर व्यक्ति ईश्वर के आदेश का पालन भी करता है, क्षमा भी माँगता है। (११-१८५)

अन्य धर्मों की तरह इस्लाम में भी दान (जकात) के लिए कहा गया है। जकात करना प्रार्थना (नमाज) के समान ही आवश्यक है। कुरान में कहा गया है कि अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को दान में देना चाहिए 'तुम नेकी को कदापि न कर सकोगे, जब तक कि तुम अपनी प्यारी चीज को ईश्वर के मार्ग में दान न करो।' (३-९२) गरीबों, असहायों और अनाथों को दान देना इस्लाम धर्म की विशेषता है। अपनी आय का ढाई से पाँच प्रतिशत तक जरूरत तक जकात का-आदेश दिया गया है।

(१०). हज (तीर्थ) और जेहाद (धर्म-युद्ध)- पवित्र काबा (अरब का प्राचीन मन्दिर) मक्का में स्थित है। इसका जीवन में एक बार दर्शन करना मुसलमान के लिए आवश्यक है। विश्व के सभी देशों में मुसलमान यहाँ एकत्रित होते हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्मिलन है। इसका आधार अध्यात्म और पूजा है। जीवन के अन्तिम वर्षों में व्यक्ति पूर्णतया अपना समर्पण ईश्वर को करता है। हज करने पर हाजी किसी अनैतिक कार्य से, लोभ और अन्याय से बचता है।

जेहाद का अर्थ 'धर्म युद्ध' माना जा सकता है। ईश्वर के मार्ग में प्रत्येक मुसलमान अपनी सम्पत्ति और जीवन का बलिदान कर सकता है। सारांश यह है कि अविश्वासियों के द्वारा यदि धर्म संकट उत्पन्न किया जाता है, तो रक्षा के लिए धर्म-युद्ध स्वीकार किया जा सकता है। धर्म की रक्षा, स्वतन्त्रता तथा महत्ता के लिए जेहाद आवश्यक है।

इस्लाम धर्म में ईश्वर-विचार

एकेश्वरवाद- इस्लाम धर्म में ईश्वर को अल्लाह कहा जाता है। अल्लाह को छोड़कर किसी देवता का सत्ता इस्लाम में नहीं मानी जाती। यही इस्लाम का एकेश्वरवाद है। कुरान में बार-बार यह दुहराया गया है कि 'अल्लाह' के सिवाय कोई दूसरा ईश्वर नहीं है

विश्व के प्रमुख धर्म

और मुहम्मद साहब उसके पैगम्बर हैं।' (ला इला इलल्ला आदि) अल्लाह एक और केवल एक है, दूसरा कोई नहीं। वह पूर्ण है। यदि ईश्वर एक के अतिरिक्त दो होगा तो उसकी पूर्णता खंडित हो जाएगी। क्योंकि एक-दूसरे को सीमित कर देगा। इसी अर्थ में एक ईश्वर और उसकी पूर्णता की सिद्धि होती है। अतः इस्लाम का ईश्वर-विचार एकेश्वरवाद को सिद्ध करता है। कुरान के इन पदों से एकेश्वरवाद की पुष्टि होती है- 'कह : ईश्वर एक है, ईश्वर निरपेक्ष है। वह न जनिता है न जन्य, और न कोई उसके समान है। (११२-१-४), इस्लाम ने ईश्वर की एकमात्र सत्ता की सिद्धि के लिए ईसाई धर्म की त्रिमूर्ति की धारणा को भी अस्वीकार कर दिया। 'निस्सन्देह, ईशू ख्रीष्ट मरियम का बेटा परमात्मा का प्रेषित है और उसका शब्द है, जिसे उसके प्रेषितों पर श्रद्धा रखो और न कहो कि 'तीन' हैं। इससे परावृत्त हो जाओ। तुम्हारे लिए ठीक होगा। निस्सन्देह परमात्मा ही एकमेव भजनीय है। वह पवित्र है, इससे परे है कि उसको पुत्र हो।' (४-१७१)

कुरान में कहा गया है कि ईश्वर ही एकमात्र प्रत्येक वस्तु की रचना करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस्लाम में अनेकेश्वरवाद को स्थान नहीं दिया गया है। इस तरह इस्लाम अनेकेश्वरवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप एकेश्वरवाद की स्थापना करता है। मुहम्मद साहब के पहले अरब में अनेक देवताओं की पूजा का प्रचलन था। मूर्ति-पूजा का प्रचार था। यहूदी धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप प्रबल रूप से इस्लाम में एकेश्वरवाद को मान्यता दी गयी है। पहले सूर्य और चन्द्रमा की पूजा प्रचलित थी परन्तु कुरान में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि- "प्रणिपात न करो सूर्य को और न चन्द्र को, अपितु प्रणिपात करो परमात्मा को, जिसने उन्हें उत्पन्न किया। यदि तुम परमात्मा की ही भक्ति करते हो।" (४१-३७) अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा आदि शक्तियाँ एक ही शक्ति (ईश्वर) का समर्थन करती हैं। इस्लाम में अनेक देवता (अनेकेश्वरवाद) का खंडन किया गया है और कहा गया है कि 'परमात्मा ने किसी को पुत्र नहीं ठहराया और न उसके साथ कोई अन्य भजनीय है।' देवता कोई रचना नहीं कर सकते। उनकी इतनी भी शक्ति नहीं कि वे मक्खी भी उड़ा सकें। कहा गया है कि 'परमात्मा के अतिरिक्त तुम जिन्हें पुकारते हो, वे कदापि एक मक्खी भी नहीं बना सकेंगे, यद्यपि उसके लिए सब इकट्ठा हो जायँ, और यदि मक्खी उनसे कुछ छीन ले जाय तो वे उसको उससे छुड़ा नहीं सकते।' (२२-७३)

ईश्वर का स्वरूप और गुण- (१) कुरान में ईश्वर परम और अनिवार्य सत्ता के रूप में वर्णित है- ईश्वर की सत्ता अनिवार्य है। वह सार-रूप है। वह स्वयम् है। उसकी सत्ता अपने से है। ईश्वर किसी के द्वारा अस्तित्व में नहीं लाया गया है। ईश्वर वह सत्ता है,

जिसने ब्रह्माण्ड को अस्तित्व प्रदान किया है। ईश्वर को अस्तित्व में लाने वाला कोई दूसरा नहीं, क्योंकि यदि ईश्वर को कोई दूसरी सत्ता, अस्तित्व में ले आती तो उसे भी कोई दूसरा सत्ता अस्तित्व में ले आती और फिर तीसरी सत्ता भी होती जो दूसरी को अस्तित्व में लाती। इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। अतः ईश्वर परम सत्ता, सार तत्त्व है। वह अपने से हैं। वह महान रचनाकार है। उसका अस्तित्व अनिवार्य है। सारा विश्व उसके अधिकार में है। (७-१०३)

(२). ईश्वर (अल्लाह) सनातन है- अर्थात् ईश्वर सदैव से अस्तित्ववान है। वह सृष्टि के पहले से है और सृष्टि के विनाश के पश्चात् भी अस्तित्ववान रहेगा। वह प्रथम और अन्तिम है, वह प्रत्यक्ष और अन्यामी है। वह प्रत्येक वस्तु का ज्ञाता है। (५७-३)

(३). ईश्वर अनन्त है- अल्लाह किसी समय और स्थान से आबद्ध नहीं है। वह चतुर्दिक् है। वह किसी विशेष स्थान में नहीं है और कोई ऐसी जगह नहीं है, जहाँ वह न हो। मनुष्य जहाँ भी है, ईश्वर उसके साथ है।

(४). सर्वज्ञता - ईश्वर सर्वज्ञाता है। गूढ़ से गूढ़ रहस्य को वह जानता है। उससे कुछ भी छिपा नहीं है। वह अन्तःकरण के रहस्यों को जानता है। कुरान में कहा गया है कि 'भूमि पर चलने वाला कोई ऐसा नहीं, जिसकी जीविका ईश्वर के अधीन न हो। वह जनता है उसके निवास का स्थान और उसके विश्राम का स्थान। वह सर्व कर्म साक्षी है।' निस्सन्देह ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वविद है। 'वह अव्यक्त व्यक्त का ज्ञाता; सर्वश्रेष्ठ, सर्वोच्च है। ईश्वर मनुष्य के भीतर उत्पन्न होने वाले विचारों को जानता है। 'उसे दृष्टि नहीं पाती पर वह दृष्टि को पा लेता है। वह सूक्ष्मदर्शी, सावधान है। (६-१०३, ५०-१६, १३=८-१०)

(५). दयालु और क्षमाशीलता- इस्लाम में ईश्वर को दयावान, क्षमाशील, न्यायी और पालन कर्ता बताया गया है। ईश्वर शक्तिशाली है। 'वह क्षमावान, प्रेममय है।' जो चाहता है सो करता है। ईश्वर मनुष्य का भार हल्का करने वाला है। अज्ञान से बुराई करने पर यदि पश्चात् किय जाय तथा अपने सुधार का यदि प्रयास करे तो ईश्वर क्षमा करता है, क्योंकि वह करुणावान है। (६-५४) ईश्वर एक ओर जहाँ दयालु है वहीं दूसरी ओर कठोर दण्ड भी देने वाला है। यह कठोरता उसकी न्याय प्रियता सिद्ध करती है। कहा गया है कि 'निस्सन्देह प्रभु लोगों को उनके अत्याचारों के होते हुए क्षमा करने वाला है और यह भी निश्चित है कि प्रभु कठोर दण्ड देने वाला है।' परन्तु क्षमा की सीमा यह है कि दुष्कर्म अज्ञान में हो जाय और शीघ्र ही पश्चाताप भी किया जाय, तभी ईश्वर क्षमा करता है। जान-बूझकर कर दुष्कर्म करने वाले को दण्ड मिलना अनिवार्य है। श्रद्धाहीन के लिए क्षमा नहीं है। (१३-६, ४-१७-१८)

(६). सृष्टिकर्ता, पालककर्ता, संहारकर्ता- सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करने वाला ईश्वर है। कुरान में बार-बार ईश्वर को नियन्ता बताया गया है। ईश्वर महान् सर्जक है। उसने व्यवस्थित विश्व की सर्जना की है। उसने आकाश, पृथ्वी, वृक्षों, नदियों, समुद्रों, पहाड़ों, देवदूतों आदि का सृजन किया है। जीवन और मृत्यु का, रात और दिन का, मेघ और पानी का निर्माण किया है। ईश्वर ही सर्व-कर्म-समर्थ है। 'भला किसेन निर्माण किया आकाशों को और भूति को और तुम्हारे लिए पानी उतारा, क्या ईश्वर के अतिरिक्त कोई और नियन्ता है? किसने भूमि का स्थल बनाया और उसके बीच में नदियाँ बनाई और उसके लिए पर्वत बनाये और दो समुद्रों के बीच सीमा-रेखा रखी। क्या ईश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य नियन्ता है? भला कौन सुनता है आर्त की जब वह उसे पुकारता ठै तथा संकट दूर कर देता है और तूम्हें भूमि पर विश्वस्त बनाता है? क्या ईश्वर के साथ कोई अन्य नियन्ता है? कौन भेजता है वायु को अपनी कृपा के आगे, मंगलवाहक बनाकर, क्या कोई नियन्ता है ईश्वर के अतिरिक्त?' ईश्वर विकास-कर्ता भी है। 'वह जीवित को मृत से निकालता है। वह मृत को जीवित से निकालने वाला है। यह है ईश्वर 'वह उषा की किरणों को प्रस्फुटित करता है। उसी ने रात बनाया है विश्राम के लिए और सूर्य-चन्द्र गणित के लिए।' (६=९५-९९)

ईश्वर, पालनकर्ता है। वह सब को जीविका देता है। 'भला कौन पहली बार पैदा करता है फिर दोबारा करेगा, और कौन उन्हें आकाश से और भूमि में जीविका देता है? क्या है कोई और नियन्ता ईश्वर के अतिरिक्त?

अन्त में पुरुत्थान के दिन सारी भूमि उसकी एक मुट्टी में होगी। आकाश उसके दाहिने हाथ से लिपटा होगा। वह पवित्र, निराला एवं सर्वोच्च है।' (३९/६७)

(७). ईश्वर शक्तिमान- ईश्वर असीमित सत्ता है। इस्लाम का ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है। उसमें इच्छा निहित है। वह शाश्वत, अनादि तथा अनन्त है। वह सर्वशक्तिमान है। मनुष्य उसका दास है। ईश्वर स्वामी है। अन्य सम्बन्धों जैसे पुत्र, भाई, माता, पिता से परे हैं। उसकी सर्वशक्तिमान इससे सिद्ध होती है कि वह सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करने वाला है। वह अद्वय है। उसके समान कोई नहीं है। उसके हाथों में प्रत्येक वस्तु की अधिसत्ता है। वह सर्वज्ञाता है, क्योंकि वह जानता है, कि पृथ्वी और स्वर्ग में क्या है। मनुष्य के मन में और मन के बाहर की प्रत्येक बात को जानता है। (५७/२)। ईश्वर सर्वव्यापी है। ईश्वर की अधिसत्ता है आकाशों में और भूमि में। जो चाहता है सो उत्पन्न करता है (४२=४९-५०) वह इच्छा-समर्थ है- ईश्वरीय इच्छा सार्वभौम है। 'वैभव निश्चय ही ईश्वर के हाथ में है, जिसे चाहे दे। ईश्वर सर्वव्यापक है, सर्वज्ञ है। (३/३७)

इस्लाम धर्म

सारांश में कुरान में (५९=२०-२४) ईश्वर के गुण और स्वरूप को इस प्रकार व्यक्त किया गया है- 'वही ईश्वर है, जिसके अतिरिक्त कोई नियन्ता नहीं अवयक्त व्यक्त का ज्ञाता, वह बहुत कृपालु और अतीव करुणावान है। वह सर्वसत्ताधीश है। पवित्रतम है। शरण्य, शान्तिदाता, संरक्षक, सर्वजित, बलवान एवं महत्तम है। ईश्वर पवित्र है, निराला है। वही ईश्वर है, कर्ता, भर्ता, स्वरूप दाता, सारे सुन्दर नाम उसी के लिए हैं। (कुरान सार-विनोवा, पृ० १०४) अन्त में ईश्वर सत्य है। अन्य वस्तुएँ अनित्य हैं। (३१=३०)

मानव की महत्ता और पापविहीनता

इस्लाम में मानव को मूल्य प्रदान किया गया है। ईश्वर की रचना में मनुष्य श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि ईश्वर ने स्वयं कहा है कि 'हे इब्लिस (मनुष्य को) मैंने दोनों, हाथों से बनाया है। (३८=७५) पुनः कहा गया है कि 'मनुष्य को खून के कतरों से बनाया है' (९६=१) सुन्दर सृष्टि में मनुष्य सर्वोच्च माना गया है। ईश्वर का कहना है कि 'वस्तुतः हमने मनुष्य को सर्वोच्च बनाया।' फिर भी मनुष्य तीन श्रेणी के हैं- हीन, मध्यम, उत्तम। 'कुछ लोग ऐसे हैं जो स्वयं पर अत्याचार करने वाले हैं और कुछ उनमें से मध्यम गति वाले हैं और कुछ उनमें ईश्वर की सत्कृतियों में सबसे आगे बढ़ जाने वाले हैं।' (९५=४-५) प्रश्न है, मनुष्य के जन्म का कारण क्या है? इसके विषय में कहा गया है कि मनुष्य जन्म का हेतु आध्यात्मिक है। ईश्वर ने मनुष्य को अपनी भक्ति के लिये उत्पन्न किया है। स्पष्टतः कहा गया है कि- "मैंने 'जिन' और मनुष्यों को इसलिये उत्पन्न किया है कि मेरी भक्ति करें। मैं उनसे कोई जीविका नहीं चाहता हूँ कि वे मुझे खिलाएँ" ईश्वर ही सबको जीविका देने वाला, बलशाली एवं सर्वशक्तिमान है' (५१=५६-५८) इन कथनों से यह प्रतीत होता है कि इस्लाम में मनुष्य का अपना अलग अस्तित्व है, परन्तु मानव ईश्वर की रचना है। ईश्वर से महान् और उसके तुल्य मनुष्य नहीं माना जा सकता। मनुष्य ईश्वर का दास है, ईश्वर स्वामी है। ईश्वर की भक्ति के लिए ही मनुष्य का अवतरण हुआ है। अतः ईश्वर के समक्ष मनुष्य का महत्त्व कुछ नहीं है। मनुष्य स्वयं ईश्वर को समर्पित करके उसका अनुग्रह स्वीकार करे। ईश्वर के प्रति उसके कर्तव्य हैं, उनका पालन करना ही उसके लिए आवश्यक है। उसका कोई अधिकार नहीं। यहाँ तक कि ईश्वर से प्रार्थना (नमाज) करते समय मनुष्य केवल उसकी कृपा की आकांक्षा कर सकता है। उसके निर्देश और उसकी कृपा की बड़ाई कर सकता है, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए किसी वस्तु की याचना नहीं कर सकता।

जहाँ तक मनुष्य की स्वतन्त्रता इच्छा का सम्बन्ध है, इस्लाम में दोनों बातें कही गयी हैं। कहीं तो मनुष्य को अपनी इच्छा से किए गए कर्मों के प्रति उत्तरदायी माना गया

विश्व के प्रमुख धर्म

है कहीं यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि क्रियाएँ तथा उसका भाग्य ईश्वर द्वारा पहले से ही निर्धारित कर दिया गया है। कुरान का यह पद मनुष्य के उत्तरदायित्व तथा ईश्वर-तन्त्रता दोनों की पुष्टि करता है- 'तेरा जो कल्याण होता है, वह ईश्वर की ओर से होता है और जो कष्ट तूझे पहुँचता है, वह तेरी वासना की ओर से पहुँचता है' (४=७९) मनुष्य अपनी वासनाओं या लालच के कारण अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं रख पाता इसलिए अशुभ की ओर प्रेरित होता है और उसका फल पाने के लिए उत्तरदायी कहा जा सकता है। परन्तु मनुष्य पर कृपा या शुभ की प्राप्ति तो ईश्वर से ही होती है। कुछ विचारक इसीलिए इस्लाम में मनुष्य की इच्छा को न तो पूर्णतया स्वतन्त्र ही मानते हैं और न ही पूर्णतया नियत ही मानते हैं। मु. जमाली ने तर्क देते हुए पूर्ण नियतिवाद तथा पूर्ण स्वतन्त्रता का खंडन करते हुए मत प्रस्तुत किया है कि 'सच्चा मुसलमान ईश्वर के पूर्ण न्याय में विश्वास करता है। ईश्वर सर्वज्ञाता है और न्याय के दिन सच्चा न्याय करता है, इसमें भी विश्वास करता है। इनका दूसरा तर्क है कि ईश्वर ने मनुष्य सहित इस विश्व की रचना नियमों के अनुसार की है। इन नियमों में विकास का नियम भी समाहित है तथा उसने मनुष्य को ध्यानपूर्वक देखने की योग्यता प्रदान की है, जिससे मनुष्य उन नियमों की खोज करे और उनसे परिचित हो। तीसरा तर्क है कि ईश्वर ने मनुष्य के पास सन्देशवाहक, पैगम्बर, नेता तथा बुद्धिमानों को भेजा जो उसे इन नियमों को समझने में सहायता कर, जिससे कि वह (मनुष्य) इन नियमों को शुभ के कार्यों के लिए काम में लाए और इन नियमों से मनुष्य तथा ईश्वर यहाँ तक कि सम्पूर्ण मानव जाति के मध्य सम्बन्धों को नियमित करे। ईश्वर द्वारा भेजे गए लोगों ने मनुष्य की सहायता शुभ और अशुभ के बीच भेद करने में भी की है। कुरान में कहा गया है कि 'निश्चित रूप से हमने उसे (मनुष्य) मार्ग दिखा दिया है, वह कृतज्ञ हो या कृतघ्न (७६=३) पवित्र कुरान में पुनः कहा गया है कि 'क्या हमने उसे (मनुष्य को) दो आँखें, जिह्वा, दो ओठ नहीं दिया है और दो प्रमुख मार्गों के लिए संकेत नहीं किया है? (८=१०)

मु. जमाली का यह भी तर्क है कि मनुष्य की स्वतन्त्रता समानुपातिक रूप में उसके ज्ञान तथा विश्व में दैवी नियम की अनुरूपता से बढ़ जाती है। इतना ही नहीं पैगम्बर द्वारा दिए गए निर्देश के कारण भी आनुपातिक रूप में मनुष्य की स्वतन्त्रता में वृद्धि होती है। मनुष्य के उत्तरदायित्व का माप ईश्वर द्वारा उसे (मनुष्य) दी हुयी बुद्धि तथा समझ की मात्रा के आधार पर किया जा सकता है। साथ ही इस आधार पर भी किया जा सकता है कि वह उस बुद्धि का उपयोग किस संभावना तक कर सकता है। लेखक का यह भी कहना है कि 'स्वतन्त्रता' और 'उत्तरदायित्व' एक दूसरे के साथ बंधे हुए हैं। मानव मस्तिष्क के

विकास के साथ-ही-साथ स्वतन्त्रता का भी विकास होता है और स्वतन्त्रता के साथ उत्तरदायित्व बढ़ता जाता है। मनुष्य उस स्वतन्त्रता का चाहे तो सदुपयोग कर सकता है या दुरुपयोग और उसके उपयोग के साथ ही मनुष्य इहलोक या परलोक में या दोनों में, ईश्वर के समक्ष जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। इसीलिए कहा गया है कि जो एक कण भी शुभ-या अशुभ कार्य करेगा उसके परिणाम को प्राप्त करेगा। (७=८)। मनुष्य ने भौतिक प्रति तो अवश्य कर ली है परन्तु उसे अभी आत्मा सम्बन्धी अथवा देवी निर्देशन सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति करनी है। ईश्वर का निर्देश सही दिशा में हो रहा है, उसे पहचानने की शक्ति उसे प्राप्त करनी है। ईश्वर सम्पूर्ण शुभत्व, प्रेम तथा दया का स्रोत है। आवश्यकता है कि ईश्वर द्वारा दी गयी बुद्धि तथा समझ से उसके निर्देश को पहचानना, समझना और उसके अनुसार कार्य करना, जिससे शुभ की प्राप्ति हो' अब यह मनुष्य का उत्तरदायित्व है कि वह क्या करे और क्या न करे।^१

अब यहीं से पाप तथा पुण्य के प्रश्न का प्रारम्भ होता है। मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा उसके उत्तरदायित्व का भार बढ़ जाता है। इस्लाम में पाप की धारणा को वंशानुक्रम के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। इसमें तो पाप को नैतिक अपराध माना गया है। इस्लाम में 'पाप' कुरान, ईरान तथा पैगम्बर साहब में तथा उनके वचनों में अविश्वास करने से होता है। इसी 'पाप' से अहंकार उत्पन्न होता है और ईश्वर से विरोध भी होता है। ईश्वर से विरोध का ही अर्थ निरीश्वर वादी होना, बहुदेववादी होना अथवा अधार्मिक होना है। इसीलिए कुरान में बार-बार दुहराया गया है कि 'ईश्वर में पवित्र ग्रन्थ में विश्वास करो।' यह वह ग्रन्थ है जिसमें कोई संदेश नहीं। कल्याण मार्गियों का मार्गदर्शक है।' जो लोग इन वचनों को सुनते हैं और उनमें से सर्वोत्तम पर चलते हैं, उन्हीं को परमात्मा ने मार्ग दिखाया है और वे ही लोग बुद्धिमान हैं।' (३=७, ३९=१८)

इस्लाम में छोटे-बड़े अन्य पापों का भी उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिए निरीश्वरवाद का समर्थन, कुरान में अविश्वास, बहुदेववाद का समर्थन, हत्या, चोरी, व्यभिचार, प्रार्थना और उपवास न करना आदि तो बड़े पाप माने जाते हैं तथा कुछ अन्य कार्य जैसे झूठी गवाही देना, जूआ, शराब, ब्याज लेना, छल करना, माता-पिता की आज्ञा न मानना आदि भी बड़े पाप कहे जाते हैं। दैनिक जीवन की नैतिकता सम्बन्धी बातें जिनका पालन करना आवश्यक है, यदि जान-बूझ कर उनकी अवहेलना की जाती है तो वह भी बड़े पाप

१. लेटर्स ऑन इस्लाम, पृ० ९४-९५

विश्व के प्रमुख धर्म

माने जाते हैं। पाप की मात्रा का निर्णय कि कौन पाप अधिक है और कौन कम, व्यक्ति के दृष्टिकोण, ज्ञान तथा अज्ञान पर निर्भर है। यदि छोटा भी अनैतिक कार्य जान-बूझ कर किया जाता है, तो वह बड़ा पाप माना जाता है। यदि अज्ञान या गलती और असावधानी से कोई गलत कार्य हो जाता है तो वह क्षमा के योग्य होता है।

पाप-विहीनता या पाप विमोचन- अब प्रश्न है कि पाप से मुक्ति कैसे मिले या पाप विमोचन किस प्रकार हो? यह प्रश्न मानव की परमागति से जुड़ा हुआ है। यदि पाप से छुटकारा नहीं मिला तो नरक की स्थिति प्राप्त होगी। तो क्या यह जीवन की सार्थकता मानी जा सकती है। यह प्रश्न सभी धर्मों से जुड़ा हुआ है। मानव की नियति इसी उहा-पोह में उलझी हुयी है? इस्लाम में इस प्रश्न पर पवित्र कुरान की यह घोषणा है कि यदि गलती से अनजान में कोई पाप हो जाता है तो पश्चात्ताप करते हुए ईश्वर से क्षमा कर देने के लिए प्रार्थना करने करने पर पाप-मुक्ति मिल सकती है। पाप से मुक्ति के लिए इस्लाम में कुछ ऐसे भी उपाय बातये गये हैं जिनके करने से व्यक्ति की शुद्धि हो सकती है। ये उपाय धार्मिक कर्मकाण्ड हैं, जैसे जकात की क्रिया, प्रार्थना के समय शुद्धि तथा तीर्थ (हज्ज) करना। सर्वोपरि धर्म परायण होना पाप से मुक्ति का सर्वोत्तम साधन माना गया है। पवित्र कुरान में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'आगे से वह बचाया जायगा जो बहुत धर्म-परायण है, जो अपना धन ईश्वर के मार्ग में देता है, जिससे कि वह विशुद्ध हो जाय।' (९२-१-२१) इस्लाम धर्म में ईश्वर ही सब कुछ माना गया है। उसके धार्मिक कर्मों को करके प्रसन्न किया जा सकता है और ईश्वर के प्रसन्न होने पर सारे पाप नष्ट हो सकते हैं। पाप नष्ट हो जाने के बाद मनुष्य का जीवन मृत्यु के पश्चात् कैसा होगा, इस्लाम में इस पर भी बहुत कुछ बताया गया है।

मृत्यु के परे का जीवन

अन्य धर्मों की तरह इस्लाम धर्म से भी मृत्यु के पश्चात् के जीवन के बारे में धारणा मिलती है। इस्लाम का विश्वास है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन पहला और अन्तिम है। मनुष्य का जीवन मृत्यु के पश्चात् समाप्त नहीं हो जाता। कहा जाता है कि वर्तमान जीवन के समाप्त होने पर मनुष्य का शरीर कब्र में डाल दिया जाता है और वह तब तक वहीं रहता है जब तक 'कयामत' (प्रलय) नहीं आ जाता। कब्र में पड़े रहने से लेकर कयामत के दिन के समय को 'बर्जख' कहते हैं। बर्जख के समय सूक्ष्म रूप में आत्मा जीवित रहती है और मन की वृत्तियों के अनुसार बिना शरीर के काम रहती है। वह कयामत के दिन कब्र से निकल कर ईश्वर के समक्ष उपस्थित होती है। कुरान में कयामत के दिन की स्थिति का

इस्लाम धर्म

वर्णन मिलता है। इस दिन सभी मृत व्यक्ति अपनी-अपनी कब्र से उठेंगे और उनकी आत्माएँ पुनः शरीर में प्रविष्ट होगी तथा देवदूत उनको ईश्वर के समक्ष प्रस्तुत करेंगे और वहाँ उनके संसार के किये गये कर्मों की छान-बीन की जायेगी। जिनके शुभ कर्म होंगे उन्हें ईश्वर अपने साथ स्वर्ग में स्थान देगा और जिनके अशुभ कर्म होंगे उन्हें नरक में स्थान दिया जाएगा। स्वर्ग और नरक की प्राप्ति मनुष्य के शुभ और अशुभ कर्मों के की तुलना से ही होगी। जिनके कार्य शुभ की अपेक्षा अशुभ अधिक होंगे उन्हें निश्चित रूप से नरक में डाला जायगा। शुभ-अशुभ कर्मों को तौलने का कार्य 'जिब्राइल' करेंगे।

कुरान में स्वर्ग और नरक की स्थिति का वृहत् रूप से चित्रण किया गया है। स्वर्ग का मनोहारी चित्रण करते हुए कहा गया है कि स्वर्ग सातवें आसमान पर स्थित है। वहाँ सुन्दर उपवन है, वहाँ जल-प्रपत तथा दूध और मधु की नदियाँ बहती हैं। (४७=१५) स्वर्ग के धड़ वाले वृक्ष हैं जिनमें स्वादपूर्ण फल हैं। बड़ी-बड़ी और काली आँखों वाली युवतियाँ हैं। सेवा के लिए 'गिलमा' सुन्दर लड़के हैं।

इसी तरह कुरान में नरक की भयानक स्थिति का भी वर्णन है। नरक ऐसा स्थान है जो अत्यन्त भयानक और पीड़ादायक है। वहाँ दहतनी आग, गरम हवा की लपटें, धुआँ, खौलता हुआ पानी, काँटे बिछे हुए हैं। बेड़ियाँ, तौक और दहकती आग तैयार रखी है। (७६=४)

ईश्वर द्वारा निर्णय हो जाने पर मनुष्य अपने कर्मों के पाप-पुण्य के आधार पर या तो नरक में जाता है या स्वर्ग में। मनुष्य जाते समय 'अल-सिरात' पुल से पार करता है। जो नरक में जाते हैं उनके लिए पुल तलवार की धार के समान हो जाता है, जिससे कि न चल पाने के कारण वह नरक में जा गिरता है। परन्तु जो मनुष्य स्वर्ग का भागी होता है उसके लिए पुल चौड़ा हो जाता है, जिससे कि वह सीधा स्वर्ग में पहुँच जाय।

इस प्रकार इस्लाम में मनुष्य के कर्मों के आधार पर स्वर्ग-नरक का स्थान निर्धारित किया गया है। इस्लाम का ईश्वर एक ओर निरंकुश प्रतीत होता है, परन्तु दूसरी ओर निष्पक्ष न्यायी बताया गाय है। मृत्यु के बाद का जीवन यह सिद्ध करता है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार या तो स्वर्ग में सुख तथा शान्ति की प्राप्ति करेगा या तो यह यातना के कुण्ड में डाल दिया जायगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मनुष्य धर्म का पालन भय के कारण करता है, जबकि धर्म की स्थिति भय और स्वार्थ से परे की होनी चाहिए। धर्म मनुष्य के विवेक से सम्पन्न होना चाहिए। स्वर्ग-नरक की धारणा को यदि विकास की अवस्था मान ली जाय तो यह तर्क संगत होगी, क्योंकि मनुष्य के विकास की एक अवस्था

विश्व के प्रमुख धर्म

स्वर्गिक कही जा सकती है, जो विकास की चरम सीमा मानी जा सकती है और नरक की स्थिति अविकसित अवस्था है, जिसे पार करके मनुष्य अपनी परमागति की प्राप्ति कर सकता है।

मानव की परमागति (Human Destiny)

इस्लाम धर्म के स्वर्ग-नरक की स्थिति को देखने से पता चलता है कि सृष्टि और मानव की परमागति स्वर्ग की प्राप्ति है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य यही है कि पुनरुत्थान के पश्चात् न्याय दिवस पर वह अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक की स्थिति को प्राप्त करे। यदि उसने ईश्वर की आज्ञा का पालन नहीं किया है, उचित कर्म-काण्ड का पालन नहीं किया है तो उसे नरक की प्राप्ति होगी, अन्यथा वह ईश्वर के साथ स्वर्ग का आनन्द लेगा। ईश्वर की सृष्टि-रचना का उद्देश्य ही यही है कि मनुष्य अपने श्रेष्ठ पद को प्राप्त करे। ईश्वर मनुष्य के प्रति दयावान है, इसलिए उसने सृष्टि-रचना की है। यदि मनुष्य ईश्वर की इच्छा की पूर्ति करेगा तो उसे परमागति की प्राप्ति होगी। इस्लाम धर्म में मानव की परमागति के सम्बन्ध में कुछ बातें महत्वपूर्ण हैं। प्रथम यह कि, मानव जीवन का प्रारम्भ किसी काल विशेष में होता है। उसके पूर्व और पश्चात् नहीं। ऐसा मान लेने पर यह मत अन्य धर्मों से विशेष रूप से जैन तथा हिन्दू धर्म से भिन्न हो जाता है, क्योंकि अन्य मतों में आत्मा को नित्य माना गया है। दूसरी बात यह है कि, मानव का पुनर्जन्म नहीं होता, यह मत भी अन्य धर्मों से भिन्न है। कुरान में एक समय ऐसा बताया गया है जिसे 'बर्जख' कहा जाता है, जिसमें मनुष्य पुनरुत्थान तक रहता है। न्याय दिवस पर बर्जख से उसे पुनः जीवित किया जाता है, परन्तु उसे कौन-सा शरीर प्राप्त होता है, यह स्पष्ट नहीं किया गया है। जो भी हो यह उस तरह का पुनर्जन्म नहीं कहा जा सकता जैसाकि अन्य धर्मों में स्वीकार किया गया है। तीसरी बात भी महत्वपूर्ण है, जिससे यह पता चलता है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार जब स्वर्ग की प्राप्ति कर लेता है, तो वह स्वर्ग का भोग तो करेगा, ईश्वर का दर्शन भी करेगा, परन्तु ईश्वर में न तो विलीन होगा और न ही ईसाई धर्म की तरह ईश्वर के बराबर बैठाया जायगा। इस्लाम धर्म में ईश्वर क्षमाशील, न्यायी, दयावान तो माना गया है परन्तु वह मनुष्य के बराबर नहीं है। मनुष्य ईश्वर की श्रेष्ठ रचना अवश्य है, परन्तु मनुष्य से नितान्त भिन्न और अलग है। ईश्वर पूर्ण है, मानव अपूर्ण है। मानव ईश्वर की रचना है, वह उसके समान नहीं हो सकता। चौथी बात यह भी स्पष्ट है कि मनुष्य को अमरत्व पाने के लिए व्यक्तिगत प्रयास करना पड़ेगा। अमरत्व को स्वर्ग-प्राप्ति के साथ जोड़ा गया है। नरक की स्थिति यदि स्थायी हो जाती है तो मनुष्य को सुधार करने का अवसर फिर नहीं मिलता।

इस्लाम धर्म

जब पुनः जन्म नहीं होता तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि नरक स्थायी निवास नहीं है, केवल सुधार के लिए एक विधि है। इस्लाम में मानव की परमागति की स्थिति ऐसी द्वन्द्वात्मक है कि मनुष्य को प्रत्येक स्थिति में अच्छा होना ही है। इससे धर्म की अनिवार्यता पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। यदि परमागति प्राप्त करनी है तो मनुष्य को धार्मिक होना ही है। उसे ईश्वर की आज्ञा का पालन करना ही है, धार्मिक कर्म-काण्ड को सम्पन्न करना है। ईश्वर का अनुग्रह मानना है, क्योंकि पुनः जीवन और कर्मों के सुधार का अवसर यहाँ नहीं है। किसी अर्थ में धार्मिकता का इससे बढ़कर कोई दूसरा अच्छा आधार नहीं माना जा सकता। इसीलिए इस्लाम में सामाजिक और नैतिक कर्तव्य धार्मिक कर्तव्य ही हैं।

इस्लाम और नैतिक जीवन-मानव एकता

मु. जुमाली ने इस मत को जड़ और तना माना है। पूजा तथा कर्म उस धर्म रूपी वृक्ष के भोजन और पानी के रूप में हैं। इसकी शाखाएँ और पत्तियाँ सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं और नैतिकता इसका फल है। बात सर्वांश रूप में सत्य प्रतीत होती है कि किसी धर्म का अन्तिम फल नैतिकता ही है। यदि मनुष्य धर्म का पालन करके नैतिक जीवन को सम्पन्न नहीं करता तो उसका धार्मिक जीवन ही नहीं सामाजिक जीवन भी निरर्थक सिद्ध हो जाता है। किसी भी धर्म में यदि नैतिकता की प्राप्ति नहीं होती, लोग यदि नैतिकता को महत्व नहीं देते तो वह धर्म मृत प्रायः हो जाता है। इस्लाम धर्म में नैतिक जीवन धर्म से तनिक भी अलग नहीं, है। इसी नैतिकता से इस्लाम मानव-एकता को उजागर करता है। इस्लाम निम्नलिखित रूपों में नैतिकता से सम्बन्धित विचारों को प्रकट करता है-

(१). इस्लाम नैतिकता को प्रथम स्थान देता है- इस्लाम नैतिक जीवन को (शुभ कार्यों को) प्रथम स्तर पर रखता है। कुरान इस सम्बन्ध में बार-बार याद दिलाता है-

‘जिनको विश्वास है और जो शुभ कार्य करते हैं, उनको सुख और प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। नैतिक जीवन का फल शुभ होता है।’ (१३=३१)

‘मनुष्य निश्चित रूप में नुकसान उठायेगा यदि शुभ नहीं करेगा और जो शुभ कार्य करेगा वह लाभ में रहेगा। जो ईश्वर का कहना मानेगा वह निश्चित रूप से उच्च चरित्र को प्राप्त करेगा।’ इस्लाम सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के लिए चरित्र और नैतिक जीवन को महत्व देता है।

(२). इस्लाम में नैतिकता का उद्देश्य- इस्लाम का नैतिक जीवन जीने का उद्देश्य है और वह है व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को अधिक से अधिक सुख प्रदान करना। नैतिक जीवन से इस वर्तमान जीवन और भविष्य जीवन दोनों में लाभ, सुख तथा

विश्व के प्रमुख धर्म

शान्ति मिलती है। कहा गया है कि 'जो इस संसार में शुभ करते हैं, वे शुभ ही पायेंगे। निश्चित रूप से उन्हें यहाँ के बाद भी अच्छा घर (स्वर्ग) मिलेगा।'

इस्लाम मानवता का सन्देश देता है। ईश्वर का आदेश शुभ का आदेश है, जो सारी-मानवता के शुभ के लिए है। जो व्यक्ति इस्लाम के आदर्श के प्रकाश से निर्देशित होता है वही ईमानदार और शुभ है। वह इस जन्म तथा अगले जन्म में सुखी रहेगा। इस्लाम धर्म की नैतिकता का यही आदर्श है।

(३). **व्यक्ति का नैतिक विकास और उसका उत्तरदायित्व-** इस्लाम के अनुसार मनुष्य शुद्ध और सरल, भोला-भाला उत्पन्न होता है। उसे कुछ भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता। ईश्वर ही उसे देखने, सुनने तथा समझने की शक्ति देता है। माता के गर्भ में उत्पन्न करता है। (१६-७८)

मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों तथा मनस का उपयोग करके विकास करता है। यदि उसका मनस ईश्वर से निर्देशित होता है तो वह शुभ-अशुभ में भेद करना सीख लेता है। यदि ईश्वर से निर्देशित नहीं होता तो वह शुभ के मार्ग पर नहीं चलता। फिर तो उसके जीवन में हानि ही होती है। इस प्रकार ईश्वर का निर्देश तथा उसकी दया ही वह आधार है जिससे वह शुभ के पथ पर चल सकता है और नैतिक कार्य कर सकता है।

यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि ईश्वर ने मनुष्य को मनस दिया है तथा भले-बुरे के चुनाव करने का विवेक दिया है। यदि वह अपना मार्ग चुनकर सद्मार्ग से (नैतिकता का पालन करते हुए) चलता है तो बच जाता है और यदि असद् मार्ग से चलता है तो नष्ट हो जाता है। कुरान में कहा गया है कि 'क्या हमने तुम्हें दो आँखें, दो ओठ तथा जीभ नहीं दिया है?' यह मनुष्य पर निर्भर करता है कि वह ईश्वर के आदेश का पालन करके कृतज्ञ हो सकता है या कृतघ्न। अतः इस प्रकार मनुष्य का नैतिक विकास अपने उत्तरदायित्व को समझ लेने तक हो जाता। फिर नैतिकता का पालन मनुष्य का धर्म और कर्त्तव्य दोनों हो जाता है। फिर मनुष्य यह भी समझने लगता है कि ईश्वर मनुष्य के प्रति न्याय करता है और मनुष्य अपने प्रति अन्याय करता है, यदि ईश्वर की आज्ञा का पालन नहीं करता।

(४). **शुभ-अशुभ शक्तियों का द्वन्द्व मनुष्य की आत्मा में होता है-** इस्लाम में ईश्वर ने एक ओर तो मनुष्य को निर्देश दिया है, मनस और बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं और दूसरी ओर शैतान (या अशुभ) को प्रयुक्त किया है, जो मनुष्य को लालच में डालता है, अवज्ञा कराता है तथा पाप उत्पन्न करता है। परन्तु ईश्वर ने मनुष्य को सचेत कर दिया है कि वह अशुभ से बचे। यह उसकी (मनुष्य) जिम्मेदारी है। ईश्वर की आज्ञा के अनुसार

इस्लाम धर्म

मनुष्य को अविश्वास, झगड़ा-लड़ाई, अज्ञान, निर्दयता तथा अन्य कमजोरियों से बचना चाहिए। बुराइयाँ मनुष्य को गलत मार्ग पर ले जाती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है कि वह ईश्वर के आदेश का पालन करे, प्रार्थना करे या सद्मार्ग पर चले। परन्तु मनुष्य लोभ में ईश्वर के आदेश को भूल जाते हैं और अशुभ मार्ग पर चलने लगता है। इस प्रकार मनुष्य के भीतर शुभ तथा अशुभ की शक्तियों में द्वन्द्व चलता रहता है। ऐसी स्थिति में वही मनुष्य ईश्वर की कृपा पा सकता है, जो ईश्वर में विश्वास करते हुए उनके आदेश का पालन (नैतिक कर्तव्य) करता है।

कुरान में कहा गया है कि 'शैतान उनमें (मनुष्य में) कलह के बीच डालता है, वास्तविकता यह है कि शैतान मनुष्य का स्पष्ट शत्रु है।' 'इस जगत में बखेड़ा न मचाओ, जबकि उसका (जगत्) सुधार हो चुका है, और उसी को पुकारो, भय एवं आशा के साथ। ईश्वर की करुणा सद्कर्म करने वालों के निकट है।' बाहरी और भीतरी पाप छोड़ दो। जो लोग पाप कमाते हैं, उन्हें उनकी उस करतूत का फल अवश्य दिया जायगा।' 'निःसन्देह सफल हुआ वह व्यक्ति, जिसने पवित्रता धारण की, प्रभु का नाम लिया, प्रार्थना की।'

नैतिक गुण तथा अनैतिक कार्य

वैसे तो सभी धर्मों में नैतिकता की ऐसी शिक्षाएँ मिलती हैं, जो कि सार्वभौमिक होती हैं और मानव जाति के लिए उपयोगी तथा आवश्यक सिद्ध होती हैं, परन्तु इस्लाम धर्म में मानव के लिए बन्धुत्व का पाठ पढ़ाने तथा मानव-एकता के लिए बहुत सारी बातें मिलती हैं। विश्वबन्धुत्व की भावना इस्लाम में मिलती है। सत्यनिष्ठा, कृतज्ञता, न्याय आदि नैतिक गुण किसी एक जाति और देश के लोगों के लिए नहीं हैं। इस्लाम में कुछ ऐसे नैतिक गुण हैं जिनका पालन करना या जीवन में उन्हें उतारना आवश्यक माना गया है। सर्वप्रथम, इस्लाम धर्मनिष्ठा पर बल देता है। कुरान में कहा गया है कि- 'तुमने से जो विश्वास करता है, ध्यानपूर्वक ईश्वर के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करो कि तुम सफल हो जाओ।' (५=३८) माता-पिता के प्रति कर्तव्य का पालन करना चाहिए। जो भी शुभ कार्य करोगे उसे ईश्वर जानता है। धैर्य से ईश्वरीय मार्ग पर चलते रहना चाहिए।

विश्व-प्रेम- इस्लाम विश्व-प्रेम तथा मानव एकता पर बल देता है। कुरान में बार-बार कहा गया है कि उदाहरतापूर्वक जिस वस्तु से तुम प्रेम करते हो उसका दान करो, लोगों से प्रेम करो। सत्य प्रेम जो ईश्वर में विश्वास करते हैं, उनका कर्तव्य है कि वे सत्य से लगाव और प्रेम रखें। अपने दायित्व का बोध होना भी आवश्यक है। मनुष्य को अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति करनी चाहिए। इस्लाम में न्याय पर बल देते हुए कहा गया है कि न्याय

विश्व के प्रमुख धर्म

कहना और करना मनुष्य का कर्तव्य है। न्याय के लिए सब को प्रेरित करना चाहिए। न्याय करना धर्म-निष्ठा है। दया और सहानुभूति अपने भाइयों और मनुष्य जाति के साथ करना परम कर्तव्य है। क्रोध पर विजय और क्षमा-कहा गया है कि जो परोपकार करते हैं, सीधे रास्ते पर चलते हैं, अपने क्रोध को वश में करते हैं तथा मनुष्यों को क्षमादान करते हैं, उन्हें ईश्वर का प्रेम मिलता है। ईश्वर शुभ करने वाले को जानता है। मानव जाति के लिए कुरान में सहयोग पर बल देते हुए कहा गया है 'तुम्हें एक दूसरे का सहयोग करना चाहिए। शुभ तथा धर्म-निष्ठा में सहयोग करो परन्तु पाप और आक्रमण (लड़ाई) में असहयोग करो।' कर्म करते रहना तथा कठिन श्रम और प्रयास सद्मार्ग के लिए आवश्यक बताया गया है। कहा गया है कि धर्म के मार्ग में अपने तन-धन से प्रयास करना चाहिए। कुरान में बन्धुत्व तथा एकता के विषय में कहा गया है कि जो ईश्वर में विश्वास करते हैं वह तुम्हारे भाई हैं। सब में एकता होनी चाहिए। नमाज के समय सामूहिक प्रार्थना में यह एकता देखी जा सकती है। धर्म के क्षेत्र में यह एकता मानव-जाति की एकता मानी जानी चाहिए। कुरान का यही अर्थ लगाना श्रेयस्कर है। नम्रता और सन्तोष जीवन के लिए महत्वपूर्ण बताया गया है। इन नैतिक गुणों के विषय में कुरान में कहा गया है कि 'ईश्वर का सेवक वह है जो जमीन पर नम्रतापूर्वक चले। यह संसार सर्वशक्तिमान ईश्वर की रचना है। वह सब को पर्याप्त साधन देता है। जीविका सबको मिलती है। सन्तोषपूर्वक उसे ग्रहण करना चाहिए। अन्त में शुद्धता तथा ईश्वर पर भरोसा रखना आवश्यक है। ईश्वर हमारा रक्षक है। उसका भरोसा रखें और अपनी बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धता का ध्यान रखते हुए ईश्वर के मार्ग पर चलें।

इस्लाम धर्म में कुछ ऐसे दुर्गुणों तथा कार्यों को बताया गया है, जिनका विरोध करना और उससे बचना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। जैसे बहुदेववाद में विश्वास न रखना और अन्याय न करना, क्योंकि अन्यायी का कोई साथी नहीं होता। अन्यायी को ईश्वर का साथ नहीं हो सकता। उसका कोई सहायक भी नहीं होता। अभिमान, उदण्डता तथा ढकोसला की इस्लाम धर्म में निन्दा की गयी है। ईश्वर के मार्ग में बनावटी, झूठी बातें, ढकोसलेबाजी, झूठा अभिमान तथा उदण्डता करना बुरा है। इन अवगुणों से व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों जीवन को हानि होती है। ईश्वर को न तो अभिमानी और न ही ढकोसला करने वाला प्रिय हो सकता है। सामाजिक बुराइयों में भ्रष्टाचार का प्रमुख स्थान है। व्यक्ति के भ्रष्ट आचरण से स्वयं उसकी हानि होती है और समाज भी बिगड़ जाता है। इसी प्रकार मिलावट, करना, गबन करना, नाप-तौल में धोखा देना, झूठ बोलना और झूठी गवाही देना नैतिक जीवन के लिए और धर्म के लिए भी उचित नहीं है। इन कर्मों से स्वर्ग का राज्य

इस्लाम धर्म

कदापि नहीं मिल सकता। सन्देह करना व्यर्थ की बातों की जासूसी करना, चुँगली करना या पीठ पीछे किसी की बुराई करना आदि निषिद्ध कर्म है। स्त्रियों के विषय में अमर्यादित भाषा का बोलना अशुभ माना गया है। किसी से ईर्ष्या करना उचित नहीं है। बातचीत करते समय किसी व्यक्ति के हृदय को कष्ट पहुँचाने वाली बात या डंक मारने जैसी बात न करें। फिजूलखर्च करने के विषय में कहा गया है कि 'निस्सन्देह फिजूलखर्च लोग शैतान के भाई हैं और शैतान अपने प्रभु का बड़ा कृतघ्न है। अधिक खर्च करने वाले तथा कंजूसी करने वाले, दोनों की निन्दा की गयी है। पवित्र कुरान में बताया गया है कि - 'न तो तू अपना हाथ गले से बाँध रख (अर्थात् कंजूस बन) और न तो सर्वथा खुला फैला दे (अर्थात् अतिव्यय कर) कि तू निन्दित एवं कंगाल बन कर बैठा रह।' ऐसे ही जीव-हत्या के विषय में कहा गया है कि 'उस जीव की हत्या न करो, जिसकी हत्या निषिद्ध की गयी है' सिवा न्याय के साथ और जो अन्याय से मारा गया, तो उसके उत्तराधिकारी को अधिकार दिया है।

इस प्रकार इस्लाम के स्वीकारात्मक और निषेधात्मक नैतिक गुणों की गणना से यह सिद्ध होता है कि इसमें मानवता की रक्षा और मर्यादा के लिए पर्याप्त प्रयास किया गया है। 'दिनकर' ने अपनी कृति 'संस्कृति के चार अध्याय' में ठीक ही लिखा है कि "संसार के धर्मों में इस्लाम ही ऐसा धर्म है जिसका विषय केवल व्यक्ति नहीं सारा समाज है अथवा जो व्यक्ति के सभी आचारों का निर्धारण करता है। कुरान में केवल वैयक्तिक धर्म ही बातें नहीं हैं, प्रत्युत, उसमें मनुष्य-मनुष्य के विविध सम्बन्ध राजनैतिक बर्ताव, न्याय, शासन, सेना-संगठन, विवाह, तलाक, शांति, युद्ध, कर्ज, सूदखोरी, दान आदि के सम्बन्ध में भी धार्मिक उपदेश हैं, जिनका पालन धार्मिक नियमों के समान ही आवश्यक माना जाता है।' (पृ० २८५)

इस्लाम के धार्मिक कर्म

इस्लाम धर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यों की कोई विशेष विभाजक रेख नहीं देखी जा सकती। धार्मिक कर्मकाण्ड भी व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य है। इस्लाम के धार्मिक कर्मों की चर्चा पहले की जा चुकी है। जैसे- १. मत का उच्चारण करना, अल्लाह के सिवाय कोई दूसरा ईश्वर नहीं है और मुहम्मद साहब उसके देवदूत हैं, २. प्रतिदिन की प्रार्थना (नमाज अदा करना), ३. जकात देना-गरीबों को दान देना, ४. उपवास करना, ५. तीर्थ यात्रा करना (हज करना) कुरान की सम्पूर्ण शिक्षाएँ और मत तथा नैतिक और धार्मिक कर्तव्य निम्नलिखित आयत में भली-भाँति दिग्दर्शित किये गए हैं-

'धार्मिकता यह नहीं है कि तुम अपना मुँह पूर्व की ओर करो या पश्चिम की ओर, अपितु धार्मिकता यह है कि कोई व्यक्ति श्रद्धा रखे ईश्वर पर, अन्तिम दिन पर (न्याय के

विश्व के प्रमुख धर्म

दिन), देवदूतों पर और ईश्वरीय ग्रन्थों पर (कुरान) और प्रेषितों पर तथा ईश्वर के प्रेम से धन दे, सगे-सम्बन्धियों को, अनार्थों को, वंचितों को, प्रवासियों को तथा याचकों को और किसी बन्दी की मुक्ति के लिए और नित्य नियमित प्रार्थना करे, नियत दान दे और वे जब अभिवचन दें तो अभिवचन पूरा करें तथा तंगी, कठिन समय, संकट और आपत्ति में धीरज रखें। ये हैं सत्य प्रिय लोग और यही हैं ईश्वर-परायण। (कुरान सार २-१७७)

इस्लाम में सम्प्रदाय

१. शिष्या और सुन्नी सम्प्रदाय- मुहम्मद साहब के दामाद के पुत्र इमाम हुसेन के अनुगामी शिया के नाम से प्रचलित हैं। शिया का अर्थ है वह जो अल्ली सम्प्रदाय को मानने वाले हैं। इसके विपरीत जो खलीफा के अनुयायी होते हैं वह 'सुन्नी' कहलाते हैं। सुन्नी मत को मानने वाले संख्या में अधिक हैं। शिया और सुन्नी सम्प्रदायों में इस्लाम के मौलिक सिद्धान्त को लेकर कोई विशेष विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों ही मुहम्मद साहब तथा उनके वचन पवित्र कुरान में आस्था रखते हैं। फिर भी इनमें विरोध होता रहा, जिसके फलस्वरूप शिया सम्प्रदाय के लोग सुन्नी सम्प्रदाय से अलग अपनी बैठकें करने लगे और उसमें चुपचाप भाग लेना शुरू किया। सुन्नी सम्प्रदाय के लोग परम्परावादी माने जाते हैं, और इस्लाम जगत में उनकी संख्या अधिक है। अरब, अफ्रीका के देशों के मुसलमान तथा टर्की के लोग मुख्य रूप से सुन्नी सम्प्रदाय के हैं और परसिया, मेसोपोटामिया तथा पाकिस्तान के मुसलमान शिया सम्प्रदाय के माने जाते हैं। इसमें अनेक विषयों जैसे भाग्यवाद, खलीफा, आत्मा की स्वतन्त्रता आदि धार्मिक और दार्शनिक विषयों पर आगे चलकर विरोध उत्पन्न हुआ। इसी बीच संत दार्शनिक तथा रहस्यवादी महापुरुष अल-गजाली का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने अपनी रहस्यवादात्मक अनुभूति के आधार पर यह बताया कि धर्मविवाद का विषय नहीं होना चाहिए। यह तो अनुभूति का विषय है।

२. इस्माइलिया सम्प्रदाय - शिया सम्प्रदाय का पुनः विभिन्न भागों में बँटवारा हो गया। उनमें से एक प्रमुख सम्प्रदाय इस्माइलिया के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस्माइली सातवें इमाम के अनुयायी हैं। इनका विश्वास है कि यह संसार बिना किसी इमाम के नहीं रहा। इनकी अपनी एक दार्शनिक दृष्टि विश्व की रचना और उसके पालन के सम्बन्ध में है। इस्माइली एक वैश्विक प्रज्ञा मानते हैं। यह वैश्विक आत्मा के रूप में होती है। कभी यह विश्वात्मा मनुष्य के रूप में अवतरित होती है और इमाम ही अवतार के रूप में आते हैं।

३. जैदी सम्प्रदाय - शिया का एक सम्प्रदाय जैदी के रूप में है। इनकी यमन में अधिकता है। इनकी धारणा के अनुसार इमाम अति प्राकृतिक शक्तियों से युक्त नहीं होते।

४. **वहाबी सम्प्रदाय** - वहाब आन्दोलन के प्रवर्तक मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब थे। यह सम्प्रदाय इस्लाम के पतन, रूढ़ियों, तथा अन्ध-विश्वास के कारण उभर कर आया। मुहम्मद वहाब के जीवन के भीतरी विलास की निन्दा की। पीरों, औलियों एवं उनकी कब्रों की पूजा का विरोध किया। कुरान के काल्पनिक अर्थ लगाने वालों का विरोध किया। मौलिक कुरान को ही वैध ठहराया।

५. **अहमदिया सम्प्रदाय** - इसके प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद थे। यह भारतीय मिर्जा अहमद स्वयं को दैवी प्रकाशन से युक्त मानते थे जिन्हें पृथ्वी पर अपना सन्देश देने के लिए भेजा गया था। इस मत की उत्पत्ति भारतीय धर्मों के प्रभाव से हुयी मानी जाती है। अफ्रीका और यूरोप में भी इनके सन्देश-वाहक भेजे गये थे।

६. **सूफी सम्प्रदाय** - सूफी मत इस्लाम के रहस्यवादी पक्ष को प्रस्तुत करता है। 'सूफी' शब्द अरबी के सूफ से बना है, जिसका अर्थ ऊन होता है। मुसलमान संतो को सूफी इसलिए कहा जाने लगा कि वे ऊन के बिना रंगे कोरे कपड़े पहनते थे। ये वस्त्र उनके वैराग्य और सांसारिक सुखों के त्याग के प्रतीक थे। आगे चलकर 'सूफी' नाम मुसलमान रहस्यवादियों के साथ जुड़ गया। इन मुसलमान रहस्यवादियों की विशेषताएँ अन्य धर्म के रहस्यवादियों के समान ही थी। उनके मत से भी सर्वेश्वरवादी अद्वैत का सिद्धान्त प्रकट होता है। इन रहस्यवादियों का लक्ष्य है आत्मा का परमात्मा से एकाकार होना। इस लक्ष्य को लेकर 'सूफीवाद' प्रचलित हुआ। सूफीवाद वेदान्त के मत से मिलता-जुलता है। आत्मा और परमात्मा की एकाकारता की बात यद्यपि इस्लाम के मत से नहीं मिलती क्योंकि इस्लाम के अनुसार आत्मा ईश्वर के बराबर नहीं हो सकती। परन्तु सूफी सन्तों ने ईश्वर-प्रेम तथा आत्मा-ईश्वर के मिलन की ही बात की है। सूफियों ने प्रेम की पीर को सर्वोपरि महत्व दिया। स्पष्ट रूप से सूफी मत पर भारतीय संतो तथा वेदान्त मत का प्रभाव दिखायी पड़ता है। इस्लाम से सूफी मत का मेल नहीं बैठता फिर भी परसियन ईश्वरशास्त्री दार्शनिक तथा रहस्यवादी अल-गजाली ने इस्लाम तथा सूफीवाद में समन्वय करने का सफल प्रयास किया है। अन्य अनेक सूफीवादी संतों ने भी इसी भाव की उन्नत अवस्था में ईश्वर के साथ एकाकारता का अनुभव किया है। अलहल्लाज की रहस्यवादी अभिव्यक्तियों में वेदान्त तथा ईसाई मत दोनों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। जैसे - 'जिसे मैं प्यार करता हूँ वह मैं हूँ' यह कथन 'तत्वमसि' का बोध कराता है और 'जो मुझे देखता है, वह उसे देखता है' जो उसे देखता है, हम दोनों को देखता है, ये दोनों अभिव्यक्तियाँ ईसाई धर्म के त्र्येक ईश्वर (Trinity) की विचारधारा को प्रकट करती है।



सिक्ख धर्म

गुरुनानक तथा 'गुरु ग्रन्थ साहिब'

सिक्ख धर्म के संस्थापक - गुरुनानक (१४६९-१५३९) की गणना महान् युग पुरुषों में की जाती है। इनकी धार्मिक अनुभूतियाँ आदि 'श्री गुरु ग्रंथ साहिब' में संगृहीत हैं। सिक्ख धर्म में इस ग्रंथ का वही स्थान है जो कि विभिन्न मतों में वेद त्रिपिटिक, बाइबिल तथा कुरान का है।

अन्य पूज्य ग्रंथों की भाँति 'गुरु ग्रन्थ साहिब' का भी संकलन किया गया है। इसमें मुख्यतः नानक की रचनाएँ हैं। साथ ही साथ अन्य नौ गुरुओं की वाणी का भी संग्रह है। यही नहीं इसमें कुछ अन्य सम्प्रदाय के हिन्दू सन्तों और भाटों को भी वचन संगृहीत हैं। कहा जाता है कि इस ग्रन्थ का संग्रह सर्वप्रथम पाँचवें गुरु अर्जुन ने किया।^१

प्रश्न यह है कि ग्रंथ कहाँ तक प्रामाणिक या विश्वसनीय है? जितने धार्मिक महापुरुष हुए हैं उनके वचन 'स्मृति' परम्परा के अनुसार ही सुरक्षित किये गये और उनका बाद में संग्रह किया गया। यही बात 'गुरु-ग्रंथ साहिब' के विषय में भी है।

गुरुनानक जी यद्यपि पढ़े-लिखे नहीं थे परन्तु उनकी वाणी में लोगों की हार्दिक तन्मयता होती है। उनकी अनुभूतियाँ उच्चकोटि की हैं, जिसे देखकर असाधारणता का बोध होता है। एक आकस्मिक लगाव पैदा होता है। इस प्रसिद्ध ग्रंथ को 'आदि ग्रंथ' भी कहते हैं, जो सिक्खों के 'बाइबिल' के रूप में और यह उसी रूप में हमारे समाने हैं, जिस रूप में उसका संग्रह गुरु ने किया था।^२

'आदि ग्रन्थ' के शोध विद्वान डॉ० जयराम मिश्र ने अपने प्रबन्ध में ग्रंथ के संकलन के विषय में ट्रम्प, मैकालिफ तथा साहिब सिंह के मतों का उल्लेख करते हुए

१. मालकम स्केच-पृ० ३०, परम्परा तथा लेखकों की धारणा के अनुसार परम गुरु ग्रन्थ गुरु अर्जुन द्वारा तैयार किया गया था। यद्यपि नानक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का रक्षण गुरु अंगद ने किया। फारेस्टर ने (ट्रैवेल्स भाग १, पृ० २९७) लिखा है कि रामदास ने अपने पूर्ववर्तियों का इतिहास एवं उनके सिद्धान्तों को क्रमबद्ध कर गुरु ग्रंथ की टिप्पणी प्रस्तुत की है। उसी ने (ट्रैवेल्स भाग-१, पृ० २९६ में) यह भी स्वीकार किया है कि गुरु ग्रन्थ का संग्रह गुरु अंगद ने ही किया है। जे०डी० कनिंघम सिक्खों का इतिहास, पृ० ४१ पर उद्धृत।

२. एक मैकालिफ इत्यादि-द सिक्ख रिलिजन, ए सिम्पोजियम सिक्खिज्म, पृ० ७७-७९।

आदि ग्रन्थ की विश्वसनीयता पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला है। इनके दृष्टिकोण से गुरुनानक वाणी परम्परा के अनुसार गुरुओं के ही पास थी और अर्जुन ने उसका संकलन किया था।^१ इस ग्रन्थ की अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए कुछ तर्क दिये जा सकते हैं; परन्तु यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो इन तर्कों का कोई आधार नहीं रह जाता। गुरु नानक की वाणी सम्पूर्ण ग्रन्थ में कितनी है, इसका पता नहीं चलता। क्योंकि सभी पदों में 'नानक' शब्द लगा हुआ है। इससे यही ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ नानक की ही वाणी से पूर्ण है, परन्तु कहा जा सकता है कि इसमें अन्य गुरुओं तथा सन्तों की भी वाणियाँ हैं। इस आधार पर ग्रन्थ के विषय में शुद्धता का दावा नहीं किया जा सकता।

इस तर्क के लिए दो उत्तर दिये जा सकते हैं जो समीचीन तथा स्वाभाविक भी ज्ञात होते हैं। गुरुनानक की वाणियों के अतिरिक्त जो पद नानक नाम से प्राप्त हैं वे उन सिक्ख गुरुओं के हैं, जो सीधे गुरुनानक देव की शिष्य-परम्परा में आते हैं तथा जिनमें क्रमशः उन्हीं की "ज्योति का प्रतिरूप" रहने के कारण 'नानक' संज्ञा द्वारा अभिहित करने की परिपाटी भी चली आई है।^२

दूसरा उत्तर यह है कि गुरुओं की वाणी अलग करने के लिए संकलकर्ता, ने सोचा कि नानक नाम के प्रयोग के कारण अन्य गुरुओं की वाणी में विभिन्नता लाना असम्भव होगा, इसलिये पहले गुरु के लिए 'महला-पहला' दूसरे गुरु के लिए 'महला दूजा', तीसरे गुरु के लिए 'महला तीजा' चौथे गुरु के लिए 'महला चौथा, का प्रयोग किया तथा पाँचवें गुरु के लिए 'महला पंजवां' का प्रयोग किया। भक्तों की वाणी को पृथक् किया। भक्तों की वाणी को पृथक् करने के लिए उनके नाम लिख दिये गये। सभी वाणियों के संग्रह के पश्चात् गुरु अर्जुन देव ने समस्त सिक्ख मण्डली को आदेश दिया कि वे उस संग्रह को ही मानें। बाहर की अन्य वाणियाँ चाहे नानक के ही नाम से क्यों न हों अस्वीकृत कर दें।^३ इस प्रकार गुरु अर्जुन ने विश्वस्त होकर नानक की वाणियों का संग्रह किया है।

इसके विषय में ट्रम्प का भी यह मत है कि एक बार सिक्खों ने एकत्र होकर अपने पाँचवे गुरु अर्जुनदेव से निवेदन किया कि गुरुनानक के पदों में तन्मयता लाने की अपूर्व शक्ति है। आजकल स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ के निमित्त अनेक पद बाबा नामक के नाम पर प्रचलित कर दिये हैं। इन पदों में अहंकार व सांसारिक भावों की प्रधानता है।

१. डॉ० जयराम मिश्र- श्री गुरु-ग्रंथ दर्शन-पृ० ९-११

२. डॉ० जयराम मिश्र- श्री गुरु-ग्रंथ दर्शन, भूमिका- परशुराम चतुर्वेदी द्वारा, पृ० ७८

३. वही, (आदि ग्रंथ) ट्रम्प (अर्नेस्ट) भूमिका पृ० ८०-८१; पृ० ९-१० पर उद्धृत

विश्व के प्रमुख धर्म

अतएव यह आवश्यक है कि गुरु महाराज के पद ऐसे पदों से पृथक् कर दिये जाँय ताकि उनकी पवित्रता अक्षुण्ण बनी रहे।^१ इसी सम्बन्ध में मैकॉलिफ का मत मिलता है कि गुरु अर्जुन को बिना किसी क कहे स्वतः इसकी अनुभूति हुई कि सिक्खों के नित्य धार्मिक कृत्यों के लिए गुरुओं की वाणियों का संग्रह आवश्यक है और इसलिए भी कि 'प्रीथिया' अपने पदों को गुरुनानक तथा उनके अन्य उत्तराधिकारी गुरुओं के नाम से संग्रह कर रहा था इसलिए गुरु अर्जुन इस कार्य में लीन हुए।^२

स्वयं गुरु अर्जुन ने जिन वाणियों को निश्चित कर दिया था उन्हीं के भाई, गुरु दास जी द्वारा लिखवाया गया और वाणियों को बोलने वाले गुरु अर्जुन ही थे। यह कार्य बड़े परिश्रम से हुआ है। कहा जाता है कि यह कार्य सन् १६०४ ई० में पूर्ण हुआ।^३

'गुरु ग्रंथ साहिब' के विश्वसनीय होने का सबसे प्रबल प्रमाण यह मिलता है कि गुरुनानक तथा अन्य गुरुओं की वाणियाँ कहीं अन्यत्र नहीं फैली हुई थीं, वरन् गुरुनानक को स्वयं अपनी वाणियों के संग्रह का ध्यान था। उनकी वाणियाँ संचित रूप में थीं और उनकी मृत्यु के पश्चात् गुरु परम्परा के उनकी तथा अन्य गुरुओं की वाणियाँ बाबा मोहन (सिक्खों के तीसरे गुरु, अमरदास जी के पुत्र थे) के पास सुरक्षित थीं।

यद्यपि मैकॉलिफ के अनुसार, गुरु वाणियाँ बाबा मोहन के पास थीं, परन्तु साहब सिंह जी के मतानुसार परम्परा से संचित थीं ये दो मत मिलते हैं। परन्तु डॉ० जय राम मिश्र के शब्दों में साहब सिंह जी के मत में अभी विद्वानों के परीक्षण की अधिक आवश्यकता है। अभी तब यह मत मान्य नहीं हो सका है। अतः इन दोनों के बीच हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि गुरुनानक की वाणियों को एकत्रित करने का कोई प्रलोभन नहीं रहा होगा। क्योंकि इस प्रकार के रहस्यवादियों के समक्ष शिष्य वर्ग सदैव उपस्थित रहता है और उसके उपदेश सुनकर ग्रहण करता है। गुरुनानक ने, पढ़े लिखे न होने के कारण स्वयं न लिखा होगा। शिष्यों ने ही संकलन किया होगा। हो सकता है कि कुछ संकलन मोहनदास के पास रहे हों और बाद में अर्जुन ने सब को एक स्थान पर संकलित किया हो। अतः इतना तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि गुरु ग्रंथ में नानक की वाणियाँ जो यत्र-तत्र बिखरी थीं, संकलित हैं। साथ ही यह भी सिद्ध है कि गुरु ग्रंथ में नानक की वाणियों का संग्रह गुरु अर्जुन ने बाद में किया। अतः इस ग्रंथ की विश्वसनीयता को द्वितीय श्रेणी में रख सकते हैं।

१. वही, पृ० १-१०

२. वही, पृ० १०

३. मैकॉलिफ- द सिक्ख रिलीजन, भाग ३, पृ० ६०-६१

सिक्ख धर्म

क्योंकि नानक की वाणियाँ, उन्हीं के जीवन काल में प्रत्यक्ष रूप से संकलित नहीं जान पड़तीं। कुछ समय बाद संकलन होने से ग्रंथ की विश्वसनीयता प्रथम कोटि में नहीं रख सकते।

गुरु नानक का प्रारम्भिक जीवन अन्य रहस्यवादियों की भाँति अस्वाभाविक तथा असाधारण रहा। कहा जाता है कि एक वर्ष में ही उनको दाँत निकल आये, वे खड़े होकर चलने लगे और जहाँ बैठते पद्यासन ही लगाकर बैठते थे। उनके असाधारण व्यवहारों को देखकर 'मासी' ने कहा कि "यह तो पागल होगा।" गुरु नानक ने भी भविष्यवाणी की कि 'मासी' को भी ऐसा ही एक पागल उत्पन्न होगा। हुआ भी ऐसा। मासी को रामारत्न नामक पुत्र हुआ, जो बड़ा ही विख्यात हुआ। विद्यारम्भ के विषय में उल्लेखनीय है कि उन्होंने भी बुद्ध की तरह सांसारिक दृष्टिकोण में नहीं पढ़ा। अपने अलौकिक ज्ञान से गुरुओं की वाणियों का आध्यात्मिक अर्थ लगाकर बताना और चमत्कृत कर देना उनकी आध्यात्मिकता तथा असाधारण व्यवहार को प्रकट करता है। पढ़ते समय उनकी यही उक्ति रही है कि "मैं तो परमेश्वर का नाम पढ़ने आया हूँ।" यज्ञोपवीत संस्कार के समय जनेऊ न धारण कर जाति बन्धन से निर्मुक्त रहने का परिचय दिया। व्यापार के लिए घर से रुपया ले जाना और उसको गरीबों और अनाथों में बाँट देना अस्वाभाविक ही प्रतीत होता है। यही नहीं साधु सन्तों से बचपन से ही मिलाकर वार्तालाप करना उनकी आध्यात्मिकता को प्रकट करता है।^१

गुरुनानक का जीवन साधना-काल से गुजरा है। उनको एकान्त अधिक अच्छा लगता था और बाहर जाकर जंगल में ईश्वर गुणानुवाद करते थे। ध्यान-मग्न रहते थे। कहीं कब्रिस्तान में भी आसन लगाकर बैठ जाते थे या कहीं साधु-सन्तों के साथ ईश्वर का गुणानुवाद किया करते थे। समय मिलने पर एकान्त में चले जाना और ईश्वर-चिन्तन करना उनके लिए स्वाभाविक रहा है।^२

सिक्ख धर्म की मूलभूत विशेषताएँ

विश्व के प्रमुख धर्मों में सिक्ख धर्म आधुनिकतम माना जाता है। सिक्ख धर्म का प्रादुर्भाव हिन्दू तथा इस्लाम धर्म के समन्वयकर्ता के रूप में हुआ है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि यह धर्म दोनों (हिन्दू-इस्लाम) धर्मों के प्रति प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यह एक बिल्कुल भिन्न और नया धर्म है, जिसकी अपनी अलग विशेषताएँ हैं। इसके विधि-विधान, परम्पराएँ तथा शिक्षाएँ भी

१. गोविन्द सिंह, इतिहास गुरु खालसा, पृ० ८०-८६

२. गोविन्द सिंह, इतिहास गुरु खालसा, पृ० ८६-८८

विश्व के प्रमुख धर्म

हिन्दू-इस्लाम धर्म से भिन्न हैं। फिर भी विरोध में एकता भी प्रकट होती है। सिक्ख धर्म नया धर्म होते हुए भी इन दोनों धर्मों से प्रभावित अवश्य है। प्रभावित होते हुए भी इसकी अपनी मान्यताएँ और विशेषताएँ हैं। संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप से इस पर प्रकाश डाल सकते हैं-

१. **सिक्ख धर्म विशुद्ध रूप में एकतत्त्ववादी है-** सिक्ख गुरुओं ने अपनी अनुभूतियों का आधार पर स्वर में एकेश्वरवाद की स्थापित की है। फिर भी यह एकेश्वरवाद एक ओर तो इस्लाम के एकेश्वरवाद से प्रभावित जान पड़ता है और दूसरी ओर उपनिषदों की विचारधारा से भी उसकी साम्य है।

२. **सृष्टि-निर्माण-** सृष्टि-निर्माण के सम्बन्ध में सिक्ख धर्म में बताया गया है कि सृष्टि की रचना ईश्वर ने अपने-आप बिना किसी बाहरी उत्पादन की सहायता से कही है। यह सृष्टि ईश्वर का आत्म प्रकाशन है। ईश्वर ने स्वयं को जगत् के रूप में प्रकट किया है। गुरुनानक के अनुसार, सृष्टि की रचना-काल निश्चित नहीं है।

३. **विश्व में व्याप्त तथा विश्वातीत ईश्वर-** सिक्ख धर्म के अनुसार ईश्वर विश्व में व्याप्त भी है और विश्व से परे भी है। सृष्टि और ईश्वर के बीच अभिन्नता के रूप में ईश्वर जगत् में समाया हुआ है। फिर जगत् की रचना करने वाले की दृष्टि से वह जगत् के परे भी है।

४. **ईश्वर जगत् का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता है-** सिक्ख धर्म में ईश्वर को विश्व की सृष्टि करने वाला तो माना ही गया है और साथ ही उसे पालनकर्ता और संहारकर्ता भी माना गया है। वैसे हिन्दू धर्म में ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता, विष्णु को पालनकर्ता तथा शिव को संहारकर्ता कहा गया है। सिक्ख धर्म में भी ब्रह्मा, विष्णु और महेश को स्थान है, परन्तु इन्हें ईश्वर की ही रचना माना गया है। इनको (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) इस धर्म में स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया है।

५. **सृष्टि की यथार्थता-** सिक्ख धर्म में सृष्टि को यथार्थ माना गया है मिथ्या नहीं। यदि ईश्वर सत्य है तथा यह सृष्टि उसी की अभिव्यक्ति है तो यह सृष्टि भी सत्य है, मिथ्या नहीं है। इस्लाम में भी सृष्टि को सत्य माना गया है। यहाँ इस्लाम का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। अद्वैत वेदान्त की तरह गुरुनानक ने माया का भी उल्लेख किया है। परन्तु माया को स्वतन्त्र न मानकर परमात्मा के अधीन माना है। माया से बचने के लिए अनेक उपाय भी बताये हैं।

६. **सिक्ख धर्म प्रवृत्तिमूलक है-** सिक्ख धर्म इस संसार को ऐसा स्थान नहीं मानता जहाँ से मनुष्य को भाग जाने की कोशिश करनी चाहिए। इसके विपरीत यह संसार

सिक्ख धर्म

ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य को सक्रिय रूप से पवित्र और धर्ममय जीवनयापन में लीन रहना चाहिए। इस प्रकार सिक्ख धर्म निवृत्ति-मूलक नहीं वरन् प्रवृत्ति-मूलक है। सांसारिक जीवन मनुष्य को यह अवसर देता है कि वह पवित्र कार्यों को निष्ठापूर्वक करे और अपने जीवन को सुधारे। इस जीवन का यही यथार्थ उपयोग मानना चाहिए।

७. सिक्ख धर्म मनुष्य योनि को श्रेष्ठ मानता है- मनुष्य को इस धर्म में आत्मिक सत्ता के रूप में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मनुष्य योनि अत्यन्त दुर्लभ है। गुरुओं की वाणी में कहा गया है कि 'माणसु जनमु गुरुमुखि पाइआ (१/१/३) 'बड़े भाग इसु सरीर पाइआ' (५/७/२१) मनुष्य योनि की प्राप्ति बड़े भाग्य से होती है। अनेक जन्मों के पुण्यों से इस योनि की प्राप्ति होती है। परन्तु मनुष्य इस संसार में अपने को अनेक अशुभ वासनाओं से पतित कर लेता है। वह अपने वास्तविक स्वरूप को 'हउमै' अर्थात् अहंकार और स्वार्थी प्रवृत्ति से ग्रसित होकर भूल जाता है और नाना प्रकार के बाह्यडम्बर, लड़ाई-झगड़े और संकर्णता में लीन होकर नष्ट हो जाता है।

८. हउमै (अहंकार) से निवृत्ति- सिक्ख धर्म में यह आवश्यक माना गया है कि मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करे। इसके लिए हउमै या अशुभ वासनाओं से छुटाकारा पाना और अपने को पवित्र करना आवश्यक है। बिना इसके मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती।

९. कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास- सिक्ख धर्म भी हिन्दू धर्म की तरह कर्म के सिद्धान्त और पुनर्जन्म में विश्वास करता है। 'जैसा कि करेगा वैसा भरेगा' या - 'जो बोयेगा सौ काटेगा' के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जैसा कर्म करेगा उसका वैसा फल भी प्राप्त करेगा। दि बुरे कर्म करेगा तो उसके परिणामस्वरूप पुनः जन्म लेकर उसका परिणाम प्राप्त करेगा। जो मनुष्य भले कार्य करेगा और ईश्वर-भक्ति में लीन रहेगा वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जायेगा तथा मोक्षावस्था की प्राप्ति पर आनन्द की स्थिति में हो जायेगा।

१०. मोक्ष- सिक्ख धर्म आत्मोपलब्धि अर्थात् मोक्ष में विश्वास करता है, मोक्ष का अर्थ है- आवागमन अर्थात् जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाना या दूसरे शब्दों में मोक्ष का अर्थ आत्मा का परमात्मा से एकाकार होना।

११. मोक्ष के साधन - सिक्ख धर्म में मनुष्य की मानसिक स्थिति, संस्कार और क्षमता को ध्यान में रखते हुए मोक्ष के विभिन्न साधन बतलाये गये हैं। जैसे कर्म मार्ग, योग मार्ग, ज्ञान मार्ग तथा शक्ति मार्ग। सिक्ख धर्म के गुरुओं ने इन मार्गों में समन्वय करने का प्रयास किया है। ज्ञान और भक्ति पूर्वक कर्म करते हुए जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त

विश्व के प्रमुख धर्म

किया जा सकता है। नाम सिमरन (प्रभु-नाम-स्मरण) भजन तथा कीर्तन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

१२. गुरु का महत्व और कृपा - सिक्ख धर्म वास्तविक अर्थ में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को ही प्रकट करता है। इसमें गुरु का उच्चतम महत्व स्वीकारा गया है। शिष्य का अपभ्रंश सिख शब्द है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह वह धर्म है जिसे गुरुओं द्वारा चलाया गया तथा शिष्यों ने उसे स्वीकार किया। इस प्रकार यह धर्म गुरु-शिष्य के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ कहा जा सकता है। इस धर्म के दस गुरु^१ हुए हैं। प्रथम गुरु बाबा नानक देव हुए (१४६९-१५३९) इन्हीं को इस धर्म का जनक माना जाता है। आदि ग्रन्थ में कहा गया है कि - “गुरु परमसरू एको जाणु” अर्थात् गुरु और परमेश्वर को एक ही समझो। सद्गुरु की कृपा तथा परमेश्वर की कृपा मोक्ष के लिए आवश्यक है। गुरु आत्मा तथा परमात्मा के बीच मध्यस्थता का कार्य करता है। गुरु के द्वारा ही मोक्ष का मार्ग मिलता है। बिनु गुरु दाते कोई न पाये। लख कोटी जे करम कमाए।

दसवें गुरु गोविन्द सिंह ने मृत्यु के पूर्व कहा कि मेरे बाद कोई सिख गुरु नहीं होगा। उन्होंने गुरु के स्थान पर आदि ग्रन्थ को गुरु के रूप से माना और कहा कि ‘केव गुरु ग्रन्थ साहिब ही गुरु होंगे।’ अतः दसवें गुरु के पश्चात् गुरु ग्रन्थ साहिब की ही पूजा होती है। यद्यपि सिक्ख धर्म में मूर्तिपूजा का खंडन किया गया है, परन्तु ग्रन्थ की पूजा ने ही मूर्तिपूजा का रूप ग्रहण कर लिया। गुरुद्वारे में ग्रन्थ साहिब का प्रमुख स्थान होता है, जहाँ सिक्ख सर्वप्रथम नमन करते हैं।

१३. आन्तरिक शुद्धि - सभी धर्मों में शुद्धि को अत्यधिक महत्व दिया जाता है। यह बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की होती है। परन्तु बाह्य शुद्धि पर अधिकांश रूप में बल दिया जाने लगता है। अतः बाह्याडम्बर तथा ढकोसला मात्र धर्म में शेष रह जाता है। सिक्ख धर्म ने बाह्याडम्बर का विरोध किया और आन्तरिक शुद्धि पर अधिक बल दिया। इसीलिए इसमें तीर्थ यात्रा, पवित्र नदियों में स्नान, मूर्तिपूजा तथा अन्य बाह्य क्रियाओं का बहिष्कार किया गया। वे बाह्य क्रियाएँ केवल यन्त्रिक होती हैं। अतः आन्तरिक शुद्धि मन और हृदय की शुद्धि आवश्यक मानी गयी। नाम स्मरण तथा कीर्तन भजन भी बाह्याडम्बर हो सकते हैं यदि उनको हृदय की आन्तरिकता से नहीं किया जाता।

१. १. गुरुनानक, २. गुरुअंगद, ३. गुरु अमरदास, ४. गुरु रामदास, ५. गुरु अर्जुनदेव, ६. गुरु हर गोविन्द, ७. गुरु हरराय, ८. गुरु हरकृष्ण, ९. गुरु तेग बहादुर और १०. गुरु गोविन्द सिंह

सिक्ख धर्म

१४. वर्ण व्यवस्था का खंडन - सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था का खंडन करता है। गुरु ग्रन्थ में कहा गया कि किसी को जाति का गर्व नहीं करना चाहिए। जो ईश्वर को जानता है वही ब्राह्मण है। जाति का अभिमान करने वाले मूर्ख हैं। इस अभिमान से अनेक पाप होते हैं।

१५. सिक्ख धर्म के पाँच चिन्ह - सिक्ख धर्म में दीक्षित व्यक्ति को पाँच वस्तुएँ चिन्ह के रूप में धारण करनी पड़ती हैं- केश, कंधी कृपाण कड़ा और कच्छा। इन्हीं पाँचों चिन्हों को पंचककार कहा जाता है।

कहा जाता है कि आदि गुरु नानक ने वेश-भूषा से अधिक आन्तरिकता को धर्म के लिए आवश्यक माना था, परन्तु सिक्ख समाज का वर्तमान संगठन गुरु गोविन्द सिंह का दिया हुआ है। पाँच ककार और पगड़ी बाँधने की प्रथा उन्हीं के द्वारा चलायी गयी। सिक्ख समाज दो सम्प्रदायों में बँटा- एक सहजधारी और दूसरा खालसा सिंह। सहजधारी लम्बे केश धारण नहीं करते और खालसा लम्बे बाल रखते हैं और कृपाण धारण करते हैं और नाम से 'सिंह' शब्द जोड़ते हैं। इन्हें ही खालसा अर्थात् शुद्ध कहा गया। अधिक सिक्ख 'खालसा' कहे जाते हैं। 'सहजधारी' संख्या में कम हैं। ये लोग ककार धारण- नहीं करते।

वैसे तो सिक्ख धर्म हिन्दू और इस्लाम धर्म से प्रभावित है और अधिकांश प्रभाव हिन्दू धर्म का ही उस पर देखा जा सकता है, परन्तु गुरु अर्जुन ने अपने को हिन्दू और मुसलमानों से अलग मानने की घोषणा की है। तीर्थ यात्रा का निषेध, वर्ण का निषेध- मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद, हिन्दू धारणाओं का निषेध सिक्ख धर्म में अवश्य किया गया है, परन्तु जैसा कि दिनकर जी ने कहा, 'सिक्ख धर्म को हिन्दुत्व की बाँह कह सकते हैं ठीक ही है। 'उनका सृष्टि-विकास का सिद्धान्त वेदान्त का सिद्धान्त है। वे कर्म को मानते हैं, पुनर्जन्म को मानते हैं, निर्वाण और माया को मानते हैं एवं ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) के त्रिदेवत्व में विश्वास करते हैं। इसके सिवा नाम, जप, ध्यान, समाधि और राजयोग का भी उनके यहाँ बहुत महत्व है। 'अन्त में उन्होंने यहाँ तक कहा कि सिक्ख धर्म और हिन्दुत्व, ये दो नहीं, एक ही धर्म हैं। गुरु गोविन्द ने वीरता की उमंग में आकर 'किसुन विसुन' के अस्तित्व से इन्कार तो कर दिया, किन्तु चंडी की स्तुति करना वे नहीं भूले और उन्होंने रामकथा पर भी सुन्दर खंड-काव्य लिखा। सिक्ख-गुरु अवतार तथा हिन्दू देवी-देवताओं पर काफी श्रद्धा रखते थे। सिक्ख धर्म-ग्रन्थ में लिखा है-

रामकथा जुग-जुग अटल जो कोई गावे नेत'

स्वर्गवास रघुवर कियो सगली पुरी समेत।

विश्व के प्रमुख धर्म

‘यही नहीं, हिन्दू समाज की कुरीतियाँ भी सिक्ख समाज में कम नहीं है। सिक्खों में भी जात-पाँत, छुआ-छूत है और विवाह-सम्बन्धों पर बहुत कुछ वैसे ही नियन्त्रण है, जैसे हिन्दुओं के यहाँ। सिक्ख जाट, सिक्ख माली, सिक्ख कुम्हार और सिक्ख चमान ये नाम ही बतलाते हैं कि सिक्ख सम्प्रदाय में भी हिन्दुत्व ही एक नया उपसर्ग लगाकर जी रहा है।

बात सही भी है। अंग्रेजों ने फूट डालने की भावना से मैकालिफ से सिक्ख धर्म पर बहुत कुछ लिखवाया। उसने सिक्ख धर्म को हिन्दुत्व से बिल्कुल भिन्न धर्म प्रमाणित करने का प्रयास किया। परन्तु बात तो यही सही है जैसा कि दिनकर जी ने लिखा है कि ‘सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म के धड़ से वीर-बाँह की तरह निकला था। - फिर भी, आज हिन्दू और सिक्ख परस्पर लड़ते रहें, क्योंकि उनकी लिपियाँ दो हैं। इसे बुद्धि का दिवाला नहीं तो और क्या कहा जाय?’^१

सिक्ख धर्म में ईश्वर की धारणा

सिक्ख धर्म में गुरुनानक तथा अन्य गुरुओं ने भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए तर्क-वितर्क का सहारा नहीं लिया है। गुरु सन्त थे। उन्हें ईश्वर की साक्षात् अनुभूति थी। उनका सर्वात्म भाव था। ईश्वर के दर्शन उन्हें सर्वत्र होते थे- ‘जहाँ-जहाँ तह तह सोई’। गुरु नानक ने अपनी मूलमन्त्र या बीजमन्त्र में ईश्वर के स्वरूप की इस प्रकार व्याख्या की है-

“१ ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरु प्रसादि”।

इस मूलमन्त्र की व्याख्या मोहन सिंह जी ने इस प्रकार की है- “वह एक है, शब्द अथवा वाणी है और इसी द्वारा सृष्टि रचना है। वह सत्य है, नाम है। उसके अस्तित्व का वाचक नाम केवल सत्य है और शेष जितने नाम हैं, उसके गुणों के वाचक हैं। उसके प्रत्यक्ष गुण ये हैं- कर्तार है, पुरियों का निर्माण करके उनके बीच निवास करने वाला है। महान् पौरुष और महान् शक्तियुक्त है। समस्त शक्तियों का स्वामी है।” परमात्मा के निषेधात्मक गुण हैं- वह भय से रहित है, वैर से रहित है, मूर्तिमान है, काल से रहित है, योनि के अन्तर्गत नहीं आता। त्रिपुटी से परे है।” वह स्वयंभू (अपने आप होने वाला) है। वह प्राप्त होने वाला है और उसकी प्राप्ति गुरु की कृपा से होती है।^१

१. डॉ० जयराम मिश्र- श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, पृ० ६१ पर उद्धृत।

सिक्ख धर्म

शोधी विद्वान् डॉ० जयराम मिश्र ने इस बीजमन्त्र में सिक्ख धर्म के ईश्वर सम्बन्धी विचार के लिए उल्लिखित शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की है-

१. ईश्वर को - '१' कहा गया है- 'यह '१' ईश्वर के एकत्व पर बल देता है। यह '१' सर्वव्यापी अव्यक्त और अमृततत्व है। यही '१' चर-अचर सृष्टि का मूल है। यह वेदान्त का परब्राह्म अक्षर 'एक' है। उसका नाश नहीं होता। यह अगम और अगोचर है- 'अगम अगोचरु अनाथु गुरमति एकै जानिआ।' डॉ० मिश्र ने इसकी तुलना उपनिषदों के 'नेह नानास्ति किंचन' और 'एकमेवाद्वितीयम्' से की है।^१

२. ईश्वर का प्रतीक 'ओंकार' शब्द- ग्रन्थ में 'एकंकार' और 'ओंकार' एक ही हैं। यह ईश्वर का गुणवाचक शब्द है। 'ओंकार' में 'एक' विशेषण लग गया है। योगसूत्र में जिसे 'प्रणव' या ओंकार माना गया है, वही सिक्ख धर्म में 'ओंकार' है। गुरुनानक तथा अर्जुन ने ईश्वर के प्रतीक इसी ओंकार से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। यह ओंकार या ईश्वर ही अनेक रूपों में व्याप्त है। यही सृष्टि का मूल है-

'एककार एक पसारा, एकै अपट अपारा'

३. ईश्वर सत्य (सतिनामु)- है-बीजमन्त्र में तीन शब्द 'सतिनामु' है। यह ईश्वर का वाचक शब्द है। इसका अर्थ 'सत्य' से है अर्थात् ईश्वर सत्य है। ईश्वर सत्य अर्थात् सत्य वह है जिसका कभी अभाव न हो। गुरुनानक 'सत्य पुरुष' का स्थान सत्य मानते हैं। उन्होंने ईश्वर को 'सतिनामु' कहा है। उपनिषदों में भी 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहा गया है। इसी 'सतिनामु' ईश्वर को अर्जुनदेव ने कहा है-

'प्रीति लगी तिसु सब सिउ मरै न आवै जाइ।

ना बेछोड़िआ बिछुड़ै सभी महि रहिआ समाइ।।

अर्थात् मेरी प्रीति उस सत्य पुरुष से लगी हुयी है, जो अमर है, वह न जन्म लेता है, न मरता है। वह किसी भी भाँति पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह सब में समान रूप से व्याप्त है।^२

४. ईश्वर कर्ता (करता) - है- सिक्ख धर्म का ईश्वर निर्गुण, निरंकार होते हुए भी भी सर्वगुण सम्पन्न है। वह पूर्ण है, वह विरोधी गुणों से भी पूर्ण है। अतः वह अलख, अगोचर होते हुए भी कर्ता है। गुरु ग्रन्थ के अनुसार ईश्वर अकेला बिना किसी की सहायता के सृष्टि की रचना करता है। उसी कर्ता पुरुष ने ब्रह्मा, विष्णु महेश सभी की रचना की है-

१. वही, पृ० ६२

२. वही, पृ० ६५

‘ब्रह्मा विसुन महेसु इक मूरति आपे करता कारी’

५. **ईश्वर सर्वज्ञ पुरुष (पुरखु)-** सिक्ख धर्म में ईश्वर को पुरुष (पुरखु) कहा गया है। यह पुरुष एक है, उसमें अनेकता नहीं है। गुरुओं ने पुरुषों को अनादि और एक कहा है। वह अद्वितीय कर्ता है, वह अपार है, सभी में व्याप्त है। उसे ग्रन्थ में अरूप, अरेख, अदृष्ट, अगोचर, अलक्ष आदि कहा गया है। वह सत्य है, परमेश्वर है, शाश्वत है और अविनाशी है। सारे गुणों की निधान है। उसमें बड़ा कोई नहीं है। ‘तू आदि पुरखु अपरंपरु करता तेरा पारु न जाइआ जीउ’।

गीता तथा उपनिषदों में भी ईश्वर को पुरुष तथा कर्ता कहा गया है। (गीता-१५/१७, मुण्डक- ३, १-१)

६. **ईश्वर निर्भय (निरभउ) है-** जिस प्रकार उपनिषदों में ईश्वर को ‘अभय’ कहा गया है, उसी प्रकार गुरु ग्रन्थ में गुरुनानक तथा अर्जुन की वाणी में ईश्वर को निर्भय (निरभउ) कहा गया है। नानक कहते हैं कि ईश्वर ही निरंकार सत्य, एक और भय से रहित है- ‘नानक निरभउ निरंकारु सचु एकु।’ गुरु अर्जुन ने बतलाया है कि किस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि ‘निरभउ’ के भय से भयभीत होकर मर्यादा पूर्वक बनी रहती है।

७. **ईश्वर निर्वैर (निरवैरु) है-** यदि ईश्वर सर्वव्यापक, साक्षी और निर्लिप्त है तो वह किसी से वैर क्यों करे? उसके लिए ऊँच नीच, राजा, रंक सब एक समान है। ग्रन्थ में ‘निरवैरु’ शब्द का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। जैसे निरभउ निरंकास निरवैरु पूरन जोति समाई’, ‘निरहारी केसव निरवैरा’ आदि।

८. **ईश्वर कालरहित (अकाल मूरति) है-** सिक्ख धर्म में ईश्वर को अविनाशी माना गया है। वह युगों के प्रारम्भ में पूर्व भी था और युगों के बीतने में भी था। वर्तमान में है और भविष्य में वह रहेगा। ईश्वर तीनों कालों में समान रूप से व्याप्त है। वह कालों का द्रष्टा है, ज्ञाता और साक्षी है। तीनों ईश्वर में निहित है। गुरुनानक कहते हैं-

‘आदि सचु, जुगादि सचु।

है भी सचु, नानक होसी भी सचु।। (जपु जी, पृ०१)

अतः ईश्वर पर काल का कोई प्रभाव नहीं। वह अकाल मूर्ति है। (अकाल मूरति)।

९. **ईश्वर अजन्मा (अजूनी, अयोनि) है-** अयोनि का अर्थ अजन्मा है, अर्थात् जो जन्म नहीं लेता। ईश्वर अजन्मा है, क्योंकि जो वस्तु जन्म लेती है, वह मरती भी है, परन्तु यदि ईश्वर सर्वव्यापक, अकाल मूरति, सत्य, कर्ता, निर्वैर है तो वह मर कैसे सकता

है? उसके मरने का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि वह अजन्मा है। मरता वह है जो जन्म लेता है। इसलिए गुरुओं ने ईश्वर को 'अयोनि' कहा है। ग्रंथ में कहा गया है कि 'जाति अजाति अजोनी संभउ ना तिसु भाउ न भरमा।' 'परब्रह्म आजोनी संभउ सरब थान घट बीठा' आदि।

१०. ईश्वर स्वयंभू (सैभं) है- ईश्वर को स्वयंभू कहा गया है। स्वयंभू का तात्पर्य है, वह जो स्वयं ही हो। उसका कोई निर्माता न हो। ईश्वर सब की रचना करता है। उसकी रचना करने वाला कोई नहीं है। ईश्वर स्वयं अपने को रचने वाला है। उपनिषदों में भी ईश्वर को स्वयंभूत कहा गया है। गुरु ग्रन्थ में यह विश्लेषण स्थान-स्थान पर मिलता है 'अकाल मूर्ति अजोनी संभौ।' 'जाति अजाति अजोनी संभउ।' आदि।

११. ईश्वर गुरु का प्रसाद (गुरु प्रसादि) है- सिक्ख धर्म में ईश्वर की प्राप्ति गुरु की कृपा से होती है, इसलिए गुरु-प्रसाद को भी ईश्वर ही कहा गया है। गुरु मिलाना, और अपना दर्शन कराना, यह ईश्वर का गुण है। इसीलिए ईश्वर को 'गुरु प्रसादि' कहा गया है। बिना गुरु की कृपा के न तो ज्ञान ही मिलता है, न दुःख से छुटकारा ही होता है। बाहरी साधन काम नहीं आते। गुरु ही कृपा करता है तो नाम जप होता है, भ्रम और संशय दूर होते हैं। उपनिषदों में भी गुरु-कृपा का महत्व बताया गया है।

१२. ईश्वर निर्गुण, सगुण और सगुण-निर्गुण तीनों है- सिक्ख धर्म में ईश्वर के स्वरूप का निरूपण उपासक के भेद के अनुसार या उपासक की आन्तरिक वृत्ति के अनुकूल तीन प्रकार का मिलता है-

(अ). ईश्वर निर्गुण है- गुरुनानक ने ईश्वर के निर्गुण रूप का चित्रण करते हुए कहा है कि 'ईश्वर के सम्बन्ध में लाखों बार प्रयास करके भी सोचते नहीं बनता।' ईश्वर का निरूपण स्वीकारात्मक और नकारात्मक दो ढंगों से किया जाता है। गुरुओं ने इन दोनों विधियों का उपयोग किया है। निर्गुण के लिए नकारात्मक शैली का उपयोग किया है और सगुण के लिए स्वीकारात्मक शैली का। निर्गुण के निरूपण में प्रतीत होता है कि गुरुओं ने प्रत्यक्षानुभूति का सहारा लिया है। गुरुनानक के नकारात्मक ढंग से ईश्वर का निरूपण किया है। गुरु अर्जुन ने निर्गुण की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है- 'निराकार, अदृश्य, अवर्ण, अरेख, अविनाशी, अव्यक्त, अगोचर' निरंजन, निरंकार, अछेद, अभेद आदि। धर्म में इतिहास में अनेक रहस्यवादियों ने इसी प्रणाली से ईश्वर का निरूपण किया है। उपनिषदों में ऐसे कथनों की बहुलता है। निर्गुण के सम्बन्ध में गुरुनानक का कहना है कि निर्गुण के सम्बन्ध में कोई बात नहीं कही जा सकती। यदि कोई कहने का प्रयास करता है तो उसे पछताना होता है, क्योंकि कुछ कहा तो जाही नहीं सकता- 'जो को कहै पिछे पछुताइ।'

विश्व के प्रमुख धर्म

(ब). ईश्वर सगुण है- सिक्ख धर्म में माया को परमात्मा रचित माना गया है। निर्गुण बिना किसी अवलम्बन के सुगुण रूप में प्रकट हुआ। इस प्रकार निर्गुण हरि ही सगुण बन गया- 'निरगुन हरिआ सरगुन धरीआ।' सिक्ख धर्म में ईश्वर के सगुण रूप का वर्णन दो प्रकार से मिलता है- एक तो विराट् स्वरूप का वर्णन, दूसरे ईश्वर के अन्य गुणों का वर्णन।

१. ईश्वर के विराट् स्वरूप का वर्णन- गुरुओं ने अनेक स्थानों पर ग्रंथ में सगुण ईश्वर के विराट् स्वरूप का वर्णन किया है। जैसे- 'सभी भूतों में परमात्मा स्वयं ही बरत रहा है। विश्व के सभी नेत्रों से परमात्मा ही देखता है। अनन्त ब्रह्माण्डों की सारी सामग्रियाँ (जड़ और चेतन) उस विराट् स्वरूप का शरीर है। माया भी उसकी आज्ञाकारिणी है।' इस सुगुण ईश्वर के विराट् स्वरूप को भी निर्गुण की तरह अकथनीय माना गया है। गुरुनानक कहते हैं- उस ईश्वर के विराट् स्वरूप का कोई अन्त न पा सका, उसकी कोई सीमा नहीं है। उसका अन्त नहीं पा सकता। जितना ही कथन करते जाइये, उतना ही उसका विस्तार होता जाता है- 'बहुता कहिए बहुता होई।'

२. ईश्वर के अन्य गुण- सगुण ईश्वर के कुछ अन्य गुणों का गुरुओं की वाणी में उल्लेख मिलता है। ऐसे गुण ही धर्म की दृष्टि से उपासना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण हैं। अन्य धर्मों में ईश्वर के इन्हीं गुणों की चर्चा मिलती है-

(अ). ईश्वर सर्वव्यापी है- 'आदि ग्रंथ' में ईश्वर के सर्वव्यापी होने का वर्णन मिलता है। कहा गया है कि ईश्वर जड़, चेतन, स्थूल, सूक्ष्म सभी में व्याप्त है। चौदह भुवनों और चारों दिशाओं में वही व्याप्त है। सारांश में ईश्वर आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सर्वत्र व्याप्त हैं, वैसे ही ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। 'आदि अंति मधि प्रभु सोई।'

(ब). ईश्वर सर्वान्तर्यामी है- ईश्वर चैतन्यमय है। उसमें ज्ञान और शक्ति है। वह सब के भीतर तथा बाहर रहकर सभी रहस्यों को जानता है। वह अत्यन्त समीप है। उससे कुछ भी छिपा नहीं है। कहा गया है कि बिना बकने 'बिन कहिन कहावन अन्तरजामी जानै।'

(स). ईश्वर सर्वशक्तिमान है- सर्वव्यापी और अन्तर्यामी ईश्वर सर्वशक्तिमान भी है। उसी शक्तिमान के करने से ही कुछ होता है, अन्यथा कुछ नहीं। 'कारण-कारण समरथ प्रभु जो करे सो होई।' वह अनहोनी को होनी बना देता है। वही मारता है, वही जिलाता है। वह सर्व नियामक शक्ति है।

सिक्ख धर्म

(द). ईश्वर सूत्रधार है- सूत्रधार का अर्थ है चलाने वाला। उसकी ही शक्ति से सारा संसार चलायमान है। वही मणि है, वही सूरत है। सारा संसार (मणि) उसी में पिराया हुआ है। वह सूत्रधार या चालक के रूप में यदि सूत खींच ले तो सारी मणियाँ अस्तव्यस्त हो जायँ।

(य). ईश्वर न्यायी है- गुरुओं ने ईश्वर को न्यायी कहा है, क्योंकि वही कर्मों के अनुसार परिणाम देता है। पापियों को दण्ड तथा पुण्य-कर्मियों को बड़प्पन देता है। बिना तराजू के सारे संसार को तौलता रहता है (न्याय करता है) 'बिन तिकड़ी तौले संसारा।'

(र). ईश्वर दाता है- 'सभना दाता एक है दूजा नहीं कोई' अर्थात् ईश्वर से बढ़कर कोई दूसरा दाता नहीं है। उसने सब जीवों की सृष्टि करके सबके भरण-पोषण का भार लिया है। संसार की अन्य शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब याचक हैं। वह सबका दाता है।

(ल). ईश्वर पालक और रक्षक है- धर्म में भक्ति की भावना आवश्यक है। धर्म-गुरुओं ने ईश्वर को रक्षक तथा पालककर्त्ता मानकर धर्म को भक्ति की भावना से भर दिया है। गुरुओं ने बताया कि ईश्वर जीवों को रक्षा माता के गर्भ से ही करता है। इहलोक और पारलोक में ईश्वर का ही भरोसा है। वही पालक और रक्षक है। ईश्वर गुणहीन का भी पालन करता है।

(व). ईश्वर क्षमाशील है- ईश्वरवादी धर्मों में ईश्वर को क्षमाशील कहा गया है। सिक्ख धर्म में भी ईश्वर को जहाँ न्याय कहा गया है, वहीं क्षमाशील भी कहा गया है। जो अनन्य भाव से अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित करता है, उसे ईश्वर (अवगुणों के लिए) क्षमा कर देता है। इससे ईश्वर की दयालुता का गुण प्रकट होता है। क्षमाशील होना ईश्वर का स्वभाव है। इसी स्वभाव के कारण वह जीव के पापों को क्षमता करता है। 'नानक सगले दोष उतारिनन, प्रभुपार ब्रह्म बख सिंद' अर्थात् नानक कहते हैं कि प्रभु क्षमाशील स्वभाव के कारण ही जीव के सारे दोषों को क्षमा कर देते हैं।

(श). ईश्वर माता-पिता हैं- ईश्वर से माता-पिता का सम्बन्ध जोड़कर सिक्ख धर्म में भक्ति मार्ग को प्रतिष्ठित किया गया है। भक्ति में ईश्वर को माता-पिता मानकर निश्चिन्तता का अनुभव करता है। अपना सारा भार जैसे माता-पिता पर डाल कर बालक निश्चिन्त हो जाता है वैसे ही सिक्ख धर्म में ईश्वर को माता-पिता मानकर गुरुओं ने भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है और निश्चिन्तता का अनुभव किया है- 'नानक पिता माता है हरि प्रभु, बारिक हरि प्रतिपारे।'

विश्व के प्रमुख धर्म

(स). ईश्वर भक्त-वत्सल और पतितों का उद्धारकर्ता हैं- सिक्ख धर्म में ईश्वर को पतितों का उद्धारकर्ता और भक्तवत्सल माना गया है। परम्परा से भी ईश्वर को भक्त वत्सल माना गया है और सिक्ख गुरुओं ने इसका पालन किया है। ईश्वर ही उनका सब कुछ है- 'तू मेरा परबतु तू मेरा ओला। तू मेरा मीतु, साजनु मेरा सुआमी। तुध बिन अवरु न जानणिआ।'

सिक्ख धर्म में ईश्वर के इन गुणों के वर्णन के बावजूद यह ध्यान देने की बात है कि इसमें अवतारवाद का खंडन किया गया है तथा एकेश्वरवाद की स्थापना की गयी है।

(३). ईश्वर निर्गुण भी है और सुगुण भी है- सिक्ख धर्म में ईश्वर के सम्बन्ध में एक तीसरा रूप भी मिलता है, जिसमें गुरुओं ने ईश्वर को दोनों रूपों में माना है- निर्गुण भी तथा सुगुण भी। वह दोनों एक साथ है। गुरु नानक ने कहा है, कि ईश्वर ने अव्यक्त निर्गुण से सुगुण ब्रह्म को उत्पन्न किया और वह दोनों आप ही है।' गुरु अमरदास ने भी यही कहा है- ईश्वर निर्गुण और सुगुण स्वरूप अपने आप ही है, जो इसे जानता है, वही वास्तविक पंडित है- निरगुण सरगुण आपे सोई।' गुरु अर्जुन ने हा 'तू निरगुन तूँ सरगुनी' निरगुन सरगुन एक।'

सिक्ख धर्म में जगत विचार

सिक्ख धर्म में मनुष्य योनि को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है- सिक्ख धर्म में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। ईश्वर की विशिष्ट चेतनता मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट रूप में पायी जाती है। गुरुओं ने मनुष्य योनि को सर्वोत्कृष्ट योनि माना है। यह योनि बड़े भाग्य से प्राप्त होती है। यह अनेक जन्मों का फल है। 'माणसु जनम गुरमुखि पाइआ।' चूँकि यह जन्म बार-बार नहीं मिलता। अतः इसके प्राप्त होने पर मनुष्य को मुक्ति का प्रयास अवश्य करना चाहिए। यही योनि मुक्ति की सीढ़ी मानी गयी है। 'मानस देह बहुरि नहिं पावहिं कछु उपाउ मुकुति का करूरे।'

गुरूनानक ने मानव जीवन को विभिन्न अवस्थाओं में बाँट कर बताया है कि मनुष्य की आय व्यर्थ में न जाय। उसे मुक्ति का उपाय करना चाहिए। अवस्थाएँ छः बतायी गयी हैं- गर्भावस्था, बाल्यावस्था। यदि मनुष्य अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर लेता है ये सारी अवस्थाएँ व्यर्थ हो जाती हैं और अन्त में यह सिद्ध हो जाता है कि संसार धुएँ के समान नश्वर है।

मनुष्य की प्रकृति- मनुष्य में जड़ और चेतन दोनों तत्त्वों का योग है। मनुष्य जड़ तत्व के बन्धन में आता है और चेतन तत्व से मुक्ति को प्राप्त करता है। गुरूनानक ने

इसे एक रूपक से समझाया है- कमल और मेढ़क दोनों निर्मल जल में रहते हैं। यह वृत्ति पर निर्भर है। मेढ़क की तमस वृत्ति है। कमल सिवार के संग दोष से कभी प्रभावित नहीं होता, जबकि मेढ़क तमोगुण का आश्रय लेता है। इस प्रकार की प्रकृति में ही ईश्वर के वियोग और मिलन के उपादान हैं।

मनुष्य ईश्वर से विलग क्यों है- मनुष्य ईश्वर से अलग क्यों है, इसके क्या-क्या कारण हैं? इस पर गुरुओं ने अपना निर्णय अनुभूति के आधार पर दिया है। साथ ही आडम्बरपूर्ण परम्पराओं को भी दोषी ठहराया है।

‘मनमुख’ और ‘साकत’ के अहंभाव वाले कर्म ही मनुष्य को ईश्वर से अलग करते हैं। ‘मनमुख’ मनुष्य वह है जो अहंकारयुक्त तथा मायासक्त मन से कर्म करते हैं। मन के दो रूप हैं, एक अहंकार से युक्त मन और दूसरा ‘ज्योतिर्मय मन’। जो मनुष्य ‘ज्योतिर्मय’ मन से कर्म करता है। वह ‘मनमुख’ नहीं होता। ‘मनमुख’ व्यक्ति का काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार से ग्रसित रहता है। परम-हितैषी गुरु के ‘सबद’ में उनकी वृत्ति (सुरति) नहीं लगती। वे अपना घर (आत्मा का घर) दिखाई नहीं देता। अन्त में यमराज से दण्ड पाते हैं और अपने कर्मों का फल भोगते हैं।

‘साकत’ पुरुष भी अहंकार और माया से युक्त कर्म करते हैं। ‘मनमुख’ और ‘साकत’ नाम का भेद है। ‘साकत’ भी मूर्ख तथा अज्ञानी है। ‘साकत’ मनुष्य ईश्वर से जो कुछ भी पाता है, उसके प्रति कृतज्ञ नहीं होता।

मनुष्य ईश्वर को प्राप्त कर सकता है- यद्यपि मनुष्य में प्रकाश और अन्धकर का मिश्रण है, फिर भी सिक्ख गुरुओं ने आशावादी दृष्टि व्यक्त करते हुए कहा है कि मनुष्य और शरीर अत्यन्त पवित्र है उसमें ईश्वर का वास रहता है। शर्त यह है कि मनुष्य ‘गुरुमुख’ हो जाय। ‘गुरुमुख’ ‘मनमुख’ के विपरीत है। गुरुमुख वह मनुष्य है जो गुरु के निर्देशन में कर्म करता है। उसकी आज्ञाओं का पालन करता है। गुरुमुख व्यक्ति सत्वगुणयुक्त हो जाता है। पाप वृत्तियाँ और अहंभाव नष्ट हो जाते हैं। जब मनुष्य को बोध हो जाता है ईश्वर उसके भीतर निवास करता है, तो उसकी पाप-वृत्ति नष्ट हो जाती है। फिर भी वह ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है।

मनुष्य का शरीर ईश्वर का मन्दिर है, शरीर में अमृत का वास है- गुरुओं ने मनुष्य के शरीर को ईश्वर का मन्दिर कहा है, इसमें ज्ञान रूपी रत्न है। जंगलों में ईश्वर को खोजने के बजाय अपने शरीर में ही ईश्वर को प्राप्त करो। शरीर में ही अमृत का वास है। ईश्वर ही वह अमृत है, जो शरीर में है। वह अमृत है, अमर है। उसे पाने पर मनुष्य

विश्व के प्रमुख धर्म

मरणशील नहीं रहता। गुरुओं ने ईश्वर को ज्याति माना है। शरीर में ईश्वर की ज्योति है। उस ज्योति को प्राप्त करना मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए। गुरुओं ने यहाँ तक कहा कि इस शरीर के अन्तर्गत सब कुछ है। इसका अभिप्राय यह है कि इसके भीतर घट-घट में रमण करने वाले प्रभु राम हैं, उन्हें ही सत्य समझो। शरीर में अहंभाव नहीं रखना चाहिए, यह तो नश्वर है।

मनुष्य और ईश्वर अभिन्न हैं- वैसे तो मनुष्य ससीम, अल्पज्ञ, शक्तिहीन और गुणहीन है परन्तु जब वह ईश्वर से एकाकार की स्थिति प्राप्त कर लेता है, 'त्रिपुटी' (ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय) का भाव अथवा (ध्याता, ध्येय, ध्यान) का भाव मिट जाता है तब वह साक्षात् परमात्मा का रूप हो जाता है। फिर ईश्वर और मनुष्य में अभेद हो जाता है।

'जिह घट सिमरनु राम को, सो नर मुक्ता जानु।

तिहि नरु हरि अंतरु नहीं, नानक सची मानु।।''

यह तभी संभव है जब मनुष्य 'मनमुख' बन जाय। अशुभ की उत्पत्ति का कारण 'हउमै' है, इससे ही व्यक्ति 'मनमुख' होता है। इससे बचने से ही अशुभ से मुक्ति मिल सकती है।

मृत्यु से परे का जीवन

सिक्ख धर्म भी हिन्दू धर्म की भाँति कर्म के सिद्धान्त पुनर्जन्म को स्वीकार करता है। इसमें भी यह मान्यता है कि मन तथा आत्मा अमर है। यह शरीर नश्वर है। शरीर के नष्ट (मृत्यु) हो जाने पर मनुष्य अगले जन्म में अपने कर्मों के अनुसार दूसरे शरीर को धारण करता है। सिक्ख धर्म में इसका बहुत स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि किस कर्म से किस प्रकार का शरीर मिलता है, फिर भी इतना तो उल्लेख मिलता ही है कि कर्मों के अनुसार पुनः जन्म होता है। गुरु ग्रंथ में कहा गया है कि 'माया के वश में होकर जीव अनेक पापों को करता है। उसके पापों का भण्डाफोड हो जाता है और यमराज के दूत बाल पकड़कर कष्ट देते हैं। वह अनेक तमोगुणी योनियों में (पशु, प्रेम, ऊंट, गधे) पड़ता है-

'पसु परेत उसट गरधभु अनेक जोनी लेट।' जीव कभी वृक्ष, कभी पक्षियों की योनि में भी जाता है, फिर कभी सर्प की योनि में जाता है-

'केते रुख विरख हम चीने, केते पासू उपाए।

केते नाग कुली महि आए, केते पंख उड़ाए।।''

सिक्ख धर्म

स्पष्ट है कि मनुष्य अपने बुरे कर्मों के कारण ही अनेक योनियों में जन्म लेता है और यदि धार्मिक कर्म करता है, वह आवागमन के चक्र से छूट जाता है तथा ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

सिक्ख धर्म में हिन्दू धर्म तथा ईसाई धर्म की तरह इसका भी उल्लेख मिलता है कि मृत्यु के बाद धर्मराज जीव के कर्मों का लेखा-जोखा भी करते हैं कि उसने कितने अच्छे या कितने बुरे कर्मों को किया है। उसी के अनुसार उसे छोड़ा जाता है या बन्धन में पुनः डाला जाता है। यमलोक का भी उल्लेख मिलता है। इसमें कर्मों के अनुसार ही नरक की यातना मिलती है। यहाँ यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि नरक कोई ऐसी जगह है, जहाँ जीव को सदैव के लिए रहना पड़ता है। या नरक की यातना पाने के बाद पुनः जन्म धारण करना पड़ता है। चूँकि सिक्ख धर्म पुनर्जन्म की धारणा को स्वीकार करता है, इससे यही प्रतीत होता है कि जीव को कुछ समय तक नरक में रहना पड़ता है और पुनः वह दूसरा जन्म धारण करता है। जो कुछ भी हो इतना स्पष्ट है कि मनुष्य को उसके किये गये कर्मों का फल मिलता ही है। यदि वह बुरे कर्म करता है तो दुःख पाता है, नरक की स्थिति का सामना करता है और यदि शुभ कार्य करता है तो आवागमन के चक्र से छुटकारा पाता है और ईश्वर से एकाकार की स्थिति को प्राप्त करता है।

सिक्ख धर्म में मानव की परमागति-आत्मोपलब्धि है

सिक्ख धर्म के अनुसार मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य या परमागति आत्मोपलब्धि है। यही परम पुरुषार्थ है, यही मोक्ष है। अर्थात् जीवन और मृत्यु के बन्धन से छुटकारा प्राप्त करना है और ईश्वर से एकाकार की स्थिति प्राप्त करनी है। परन्तु ईश्वर से एकाकार की अवस्था क्या है, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। इस सम्बन्ध में सिक्ख गुरुओं ने दो स्थितियों का उल्लेख किया है- एक तो ईश्वर के समान हो जाना कहा है और दूसरे ईश्वर में विलीन हो जाने की बात की है। 'समाना' के प्रयोग से आत्मा का ईश्वर में समाहित होना भी स्पष्ट होता है और 'समान' होना भी माना जा सकता है। 'श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन' में रचनाकर ने गुरुनानक के एक पद का अर्थ आत्मा का ईश्वर में विलीन होने से लगाया है और यही मोक्षावस्था है। यही मनुष्य की परमागति है। गुरुनानक के इस पद से आत्मा और परमात्मा के मिलन की बात इस प्रकार की गयी है-

'मिले जलु जलहि खटाना राम।

संगि जोती जोति मिलाना राम।।'

पद में आगे जो कहा गया है उसका भाव है कि "जिस प्रकार जल से जल मिलकर तदाकार हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा में अन्तर्गत परमात्मा की रखी हुयी वह

विश्व के प्रमुख धर्म

ज्योति परमात्मा के साथ मिलकर तदाकार हो जाती है। नमक की डली समुद्र का थाह लेने के लिए जाती है, परन्तु वह समुद्र में मिलकर अपना नाम और रूप खो बैठती है और समुद्र रूप हो जाती है। भला बताइए वह समुद्र की बात किससे कहे? ठीक इसी भाँति साधक भी पूर्ण, कर्ता पुरुष के साथ मिलकर अपना नामरूप खो बैठता है। परमात्मा के इस मिलन की दशा को चाहे 'शून्य' के नाम से पुकारिये अथवा 'सहज समाधि' के नाम से वास्तव में है दोनों एक ही। वह स्वयं ही अपने को बतला सकता है। वह परमात्मा के साथ मिलकर एक हो जाता है, उसके सारे संशय, भ्रम तथा भय निवृत्त हो जाते हैं और तीनों गुण भी इसी पार रह जाते हैं। वह उनसे परे हो जाता है।^१ सिक्ख धर्म में इस ओर भी संकेत किया गया है कि यदि मनुष्य वासनाओं और कामनाओं से छूट गया है। पवित्र हो जाता है तो आंशिक मुक्ति यहीं मिल जाती है और पूर्ण मुक्ति शरीरान्त के पश्चात् होती है— जब आत्मा ईश्वर में लीन हो जाती है। यह धारणा सदेह तथा विदेह मुक्ति से मिलती—जुलती है।

आत्मोपलब्धि या मोक्ष के उपाय (मार्ग)

मनुष्य को मोक्ष प्राप्त करने के लिए सिक्ख धर्म में अनेक मार्गों और उपायों की चर्चा की गयी है। इसके लिए सर्वप्रथम मनुष्य 'मन' को वश में करे अर्थात् 'मनोभारण' उपाय है। गुरुओं ने दो प्रकार के मन के विषय में बतलाया है, एक अहंकार युक्त मन दूसरा ज्योतिर्मय मन। ज्योतिर्मय मन में ही आध्यात्मिकता निहित है। अहंकार युक्त मन मोहिनी भाषा से आच्छादित रहता है। इसी से व्यक्ति बार-बार अनेक योनियों में जन्म लेता रहता है। यह चंचल है। इसमें काम, क्रोध, लोभ और अहंकार रहते हैं। इसी मन को जब तक वशीभूत नहीं कर लेंगे तब तक आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकते। यह मन जब तक नहीं मरता तब तक आगे नहीं बढ़ सकते—

'ना मुनु मरै न कारज होइ'

ऐसे अहंकारयुक्त मन को मारना होगा। मनोमारण की अनेक विधियाँ बताई गयी हैं। जैसे—

(१). अहंकारयुक्त मन को ज्योतिर्मय मन का स्वरूप समझा जाय— अर्थात् अहंकारयुक्त मन को अपनी संकीर्णता, दुःखों, दोषों आदि का पूर्ण रूप से बाँध हो जाय। फिर ज्योतिर्मय मन की पहचान होगी। वह ज्योतिर्मय मन का जो अमृतकुण्ड है। यह अगम रूप का स्थान है।

१. वही, पृ० २५३-५४

सिक्ख धर्म

(२). **मन से मन को मनवाना-** गुरुओं ने बताया है कि ज्योतिर्मय मन से अहंकारयुक्त मन वश में होता है। फिर अहंकारयुक्त मन ज्योतिर्मय मन में बदल जाता है। मन(अहंकारयुक्त) मन में (ज्योतिर्मय) में समा जाता है; अर्थात्! मन से मन मानता है- 'मन ही तो मुन मानिया'।

(३). **सांसारिक विषयों में वैराग्य-** गुरुओं ने वैराग्य-भावना को मनोमरण का महान साधन माना है।

(४). **दुष्ट की संगति का त्याग-** मनोमरण का उपाय है कि दुर्जन; दुष्ट लोगों का साथ छोड़ दिया जाय।

(५). **साधु-संगति-** जब साधु-संगति होती है, तब मन के मोह, भ्रम, अज्ञान, क्रोध सभी मिट जाते हैं।

(६). **सत्य आचरण-** मन को समझाने के लिए सत्य आचरण आवश्यक है। गुरुओं ने कहा है- ऐ मन सदैव सत्य को ही सँभाल। इसी से तू ज्योतिर्मय मन में सुखपूर्वक बसेगा।

(७). **सतगुरु का महत्व-** अन्त में सद्गुरु की महत्ता यह है कि बिना गुरु के मन टिकता ही नहीं। गुरु के आदेश के अनुसार कार्य करने से मन भटकता नहीं। इसीलिए कहा गया है कि - 'नाचु रे मन गुर के आगे' या कहा गया कि- 'बिन गुर मनुआ न टिकै, फिरि, फिरि जूनी (योनि) पाइ।'

(८). **ईश्वर की शरण लेना-** गुरुनानक देव ने कहा है कि यदि ईश्वर की शरण नहीं लेता तो वह भटकता फिरता है। अतः उसे शान्ति पाने के लिए उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। ईश्वर-शरण ग्रहण करने का तात्पर्य गुरुओं ने ईश्वर के नाम की शरण लेने से माना है। मन ईश्वर के नाम बिना मछली, भ्रमर, हाथी दादुर के समान भटकता रहता है।

मनोमरण का परिणाम- मन निरोध या मन वश में करने का परिणाम यह होता है कि मनशान्त हो जाता है, ईश्वर की अनन्ता का साक्षात् प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह परमात्मा स्वरूप हो जाता है।

सिक्ख धर्म में मनोमरण से ईश्वर की प्राप्ति के उपाय के अतिरिक्त हिन्दू धर्म की तरह कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग तथा योग मार्ग को भी मोक्ष प्राप्त करने का उपाय बताया गया है।

कर्म मार्ग

मनुष्य अनेक दृष्टियों से अनेक प्रकार के कार्य करता है और उन कर्मों से अपने को बन्धन में ही डालता है, परन्तु कुछ कर्म सिक्ख गुरुओं के अनुसार ऐसे भी हैं जिन्हें

विश्व के प्रमुख धर्म

मोक्ष प्रद कर्म कहा जाता है। ये तीन प्रकार के कर्म हैं- हरि-कीरत कर्म, अध्यात्म कर्म, हुकम-रजाई कर्म।

हरि-कीरत कर्म- पिछले जनम के कर्म (कीरत कर्म) का फल भोगना पड़ता है। पूर्व जन्मों का लेख मिटाने से भी नहीं मिटता। इसका फल भोगना ही पड़ता है। इससे मुक्ति गुरु ही दिला सकता है। इसकी दुरूहता मेटने में 'हरि कीरत कर्म' ही समर्थ है। ईश्वर के नाम का गुणगान ही 'कीरत कर्म' के मलों को धो सकता है।

अधि-आत्म कर्म (अध्यात्म कर्म)- मोक्ष प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले सभी कर्म, उपासनाएँ सभी आचार-व्यवहार आध्यात्मिक कर्म कहलाते हैं । इसमें स्नान, दान, कामादि को मारना, गुरु में विश्वास, जप तप, सत्य आचरण जीवों के प्रति दया, सहज वृत्ति धारण करना, नाम कीर्तन करना आदि अध्यात्म कर्म के रूप में आते हैं।

हुकम-रजाई कर्म- मोक्ष प्राप्त करने के लिए हुकम रजाई कम करना चाहिए। ये वे कर्म होते हैं जो ईश्वर की आज्ञा, इच्छा या मर्जी से किये जाते हैं। शुद्ध हृदय वाले ईश्वर की आज्ञा अपने अन्तःकरण में सुनते हैं और उसके अनुसार कार्य करते हैं। यह कर्म अपने से नहीं होता। इसके लिए गुरु की कृपा, ईश्वर की अनुकम्पा तथा साधक के हृदय की पवित्रता आवश्यक है।

हुकम-रजाई कर्म का रहस्य इस बात में है कि इसमें ईश्वर की 'रजा' मनुष्य की इच्छा तथा उसकी क्रियाशक्ति मिली हुयी है। यह 'ब्राह्मी स्थिति' है। यह स्थिति 'मन से राम और हाथ से काम' करने की स्थिति है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सिक्ख धर्म में 'कर्म त्याग' करने को नहीं कहा गया है। इसके विपरीत कर्मों को विधिवत करना है। इसका प्रमाण सिक्ख के गुरुओं के जीवन और कार्यों से मिलता है। यह कर्म ज्ञान, भक्ति का समन्वय है। इसमें भक्तिभावना निहित है। बिना भक्ति के हुकम रजाई कर्म सम्भव नहीं। फिर तो कर्म अहंकारयुक्त होंगे तथा पाखण्डपूर्ण भी। गुरु अर्जुन ने कर्म को महत्व देते हुए प्रबोधन दिया है कि- 'हे प्राणी उद्यम करके कमाओं जीवन में सुख प्राप्त करो। प्रभु का ध्यान करो, उनका साक्षात्कार करो। इससे सारी चिन्ताएँ मिट जाएँगी-

'उद्यम करेदिआ जीउ तूँ कमावदिआ सुखभुंचु।

धिआइदिआ तू प्रभु मिलु नानक उतरी चिंत।।'

ज्ञान मार्ग

सिक्ख गुरुओं ने ज्ञान के दो भेद बताये हैं- एक वाचक या चंचु ज्ञान या मौखिक ज्ञान, दूसरा आत्म ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान या तत्त्व ज्ञान। केवल वाचक ज्ञान से ईश्वर का बोध नहीं

सिक्ख धर्म

होता। वाचक ज्ञानों के कार्य अहं बुद्धि से होते हैं। अतः ऐसे ज्ञान की निन्दा की गयी है। परन्तु ब्रह्म ज्ञान जो वास्तविक ज्ञान है, उसकी गुरुओं ने प्रशंसा की है। सत्य ईश्वर में निरन्तर रमण करना ही ज्ञान है। इस ज्ञान से ज्योति में ज्योति अर्थात् आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है। ज्ञान मार्ग से ईश्वर की प्राप्ति कैसे हो सकती है, इसके लिए गुरुओं ने निम्नलिखित साधनबतलाया है-विवेक, वैराग्य, श्रद्धा, श्रवण मनन और निदिध्यासन, अहंकार त्याग, परमात्मा और गुरु की कृपा। गुरुओं ने विवेक का अर्थ बताया है कि अविनाशी ईश्वर में निष्ठा तथा सांसारिक विषयों की अनश्वरता की अनुभूति विवेक है। गृहस्थी छोड़कर माँगना वैराग्य नहीं है। आन्तरिक त्याग ही वैराग्य है। ब्रह्म त्याग पाखण्ड है। इसकी गुरुओं ने भर्त्सना की है। आन्तरिक त्याग, सन्तों के प्रति, गुरु के प्रति तथा ईश्वर के प्रति श्रद्धा होनी चाहिए तभी ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। ज्ञान के लिए श्रवण से ही लगता है। श्रवण के पश्चात् मनन एवं निदिध्यासन आता है। ब्रह्म का तदाकार भाव से चिन्तन करना ही मनन है और व्यवधान रहित ईश्वर का चिन्तन ही निदिध्यासन है। ईश्वर का नाम मनन करने से मोक्ष का मार्ग मिलता है। शरीर के भीतर ही आत्मा और परमात्मा दोनों का निवास है, परन्तु अहंकार के कारण दोनों का मिलन नहीं हो पाता। अतः आवश्यक है कि अहंकार है। ज्ञान तभी प्राप्त होगा जब इन सभी साधनों से चलेंगे। ईश्वर-ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य और ईश्वर में कोई भेद नहीं रह जाता-

‘जिनी आतम चीनिया परमातमु सोई।’

फिर तो मनुष्य ब्रह्म ज्ञानी हो जाता है, वह कभी नहीं मरता। वह ब्रह्म ज्ञानी सभी जीवों का स्वामी होता है।

ब्रह्म ज्ञानी और प्रवृत्ति मार्ग- सिक्ख गुरुओं के अनुसार ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् मनुष्य चाहे गृहस्थी के काम में रहे चाहे विरक्ति की स्थिति में रहे, दोनों में ही श्रेष्ठ होता है। गुरुओं के अनुसार ऐसा ब्रह्म ज्ञानी गृहस्थ धर्म का ऐसे ही पालन करता है जैसे कमल पानी में रहता है, परन्तु उस पर उसका कोई प्रभाव नहीं रहता। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग में कोई विरोध नहीं है।

भक्ति मार्ग

सिक्ख धर्म में जहाँ एक ओर कर्म मार्ग तथा ज्ञान मार्ग को स्थान दिया गया है, वहीं दूसरी ओर भक्तिमार्ग के विषय में बताया गया है कि बिना भक्ति के किसी भी मार्ग की साधना निष्प्राण होती है। गुरुओं ने रागात्मिका भक्ति (प्रेमा भक्ति) को माना है परन्तु वैधी भक्ति का खण्डन किया है। अर्थात् विधि-विधान, तिलक, माला, प्रतिमा पूजन, धूप-

विश्व के प्रमुख धर्म

दीप आदि की निस्सरता को प्रदर्शित किया है। इन्हें पाखण्डपूर्ण बताया है। प्रेमाभक्ति को महत्त्वपूर्ण माना है। प्रेमा भक्ति का अर्थ है ईश्वर के विषय में निरन्तर पढ़ना, लिखना, जपना, रात-दिन उन्हीं के गुणगान करना। मनसा-वाचा-कर्मणा उन्हीं का ध्यान करना, मन में बसाना ही प्रेमा भक्ति का लक्षण है। इसमें प्रेम और विरह दोनों का महत्व है। इसमें ईश्वर से कई रूपों में सम्बन्ध स्थापित किया गया है। ईश्वर को माता-पिता समझना, अपने को ईश्वर का सेवक समझना, सखा, पत्नी आदि समझकर ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ना, प्रेमा भक्ति के उदाहरण हैं। गुरुओं ने इन सम्बन्धों से ईश्वर की भक्ति की है।

ईश्वर के विस्मरण से जीव की चूँकि अनेक दुर्दशाएँ होती हैं अतः जीव का लक्ष्य होना चाहिए कि वह ईश्वर से भक्ति करे। इसी से जीवन सार्थक होता है। ऐसी भक्ति के लिए गुरुओं ने निम्नलिखित साधनों को बताया है- १. सद्गुरु की प्राप्ति और उसकी कृपा प्राप्त करना तथा उसके उपदेशों का उपयोग करना। २. नाम स्मरण-सिक्ख धर्म में ईश्वर- नाम के स्मरण पर अत्यधिक बल दिया गया है। नाम निर्गुण रूप के भी हैं और विष्णु अवतार सम्बन्धी नामी भी पाए जाते हैं। 'वाहगुरु' सिक्खों में खालसा के निर्माण के साथ प्रचलित हुआ। यह मन की एक विस्मय की अवस्था का द्योतक है। यह कोई संज्ञक नाम नहीं है। इसका जप करना सिक्खों में आवश्यक माना गया है। ३. सत्संगति और साधुसंग- सभी मार्गों में सत्संगति का महत्व माना गया है। इससे मलों का और अहंकारों का नाश होता है। ४. ईश्वर का भय-गुरुओं ने ईश्वर के भय को संसार-सागर से पार जाने के लिए आवश्यक माना है। ईश्वर का भय सम्पूर्ण सृष्टि को है। ईश्वर का भय मानने से किसी और का भय मानने की आवश्यकता नहीं रहती। यहाँ भय का अर्थ हौवा नहीं है। भय का अर्थ ईश्वर के शासन से है। ईश्वर का शासन स्वीकार करना पड़ेगा भय और भक्ति ईश्वर प्राप्ति के साधन हैं- 'बिनु भै भगति तरनु कैसे।' ५. ईश्वर का हुकुम- ईश्वर का 'हुकम' (इच्छा) मानने से ही मनुष्य का कल्याण संभव है। मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा समाहित कर दे। फिर उसका अहंभव मटि जाएगा, वासनाएँ शान्त हो जाएँगी। इसमें नियतिवाद और अनियतिवाद का समन्वय किया गया है। ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा मिला दें। ६. दृढ़ विश्वास- भक्ति का साधन है ईश्वर और उसकी इच्छा में दृढ़ विश्वास। सभी नाते, रिश्ते ईश्वर से हैं। ऐसे दृढ़ विश्वास से भक्ति बढ़ती है। विश्वास बढ़ने से केवल ईश्वर का सहारा रहता है। भक्तों की रक्षा भगवान् करता है। ७. दैन्य भाव- यह भावना हृदय की सरलता और निष्कपटता प्रकट करती है। अभिमान नष्ट होता है। भक्ति बढ़ती है। ८. आत्म-समर्पण- भक्ति का उपकरण आत्म-समर्पण भी है। बिना इसके भक्ति का रस नहीं

सिक्ख धर्म

मिलता। ईश्वर के ऊपर अपने को छोड़ देना या अपने को सौंप देना ही आत्म-समर्पण है। ९. ईश्वर का स्मरण और कीर्तन-स्मरण का अर्थ है सोते, उठते, बैठते, चलते ईश्वर का स्मरण करना चाहिए। इससे चिन्ता मिटती है। भक्ति दृढ़ होती है। कीर्तन ईश्वर का गुण-गान है। इससे हृदय उद्वेलित होता है। भक्ति-प्राप्ति का अद्वितीय साधन है। १०. प्रभु कृपा-ईश्वर की कृपा नहो तो सभी निरर्थक होते हैं। यही सभी साधनों की जननी है। वैराग्य, भक्ति, मुक्ति सभी ईश्वर की कृपा से मिलते हैं।

योग मार्ग

मोक्ष की प्राप्ति के लिये योग मार्ग भी एक साधन के रूप में स्वीकृत है। सिक्ख धर्म में भी गुरुओं की वाणी में हठयोग के अनेक शब्द जैसे- 'गगनि' 'अमृत धारि', 'दसम दुआरि', 'अनहद वाणी' आदि मिलते हैं। इससे कुछ सिक्ख आचार्यों ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सिक्ख- गुरुओं में योग की भावना पायी जाती है। परन्तु डॉ० जयराम मिश्र का विचार है कि "योग के प्रति गुरुओं को अपार श्रद्धा है अवश्य पर उन्हें हठयोग की सारी प्रक्रियाएँ मान्य नहीं हैं। बिना भक्ति के हठयोग त्याज्य है। गुरुओं की दृष्टि में प्राणायाम, नेवली आदि कर्म बिना भक्ति के शारीरिक व्यायाम मात्र हैं। भक्तिहीन योग निष्प्राण और तत्वहीन है। बिना भक्ति के योग अहंकार-युक्त, पाखण्डयुक्त और नीरस है। शरीर भाव की प्रधानता के कारण इसमें परमात्मा की प्राप्ति का विलक्षण आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। गुरुनानक ने योग की असार्थकता सिद्ध की है।"^१

'राम नामु बिनु विरथा सासु लीजै।'

लेखक ने यह सिद्ध किया है कि सिक्ख गुरुओं ने व्यवसाय पूर्ण और पाखण्डयुक्त योग के प्रति विरोधी भाव व्यक्त किया है।

वास्तविक योग- गुरुनानक ने बताया है कि 'योग न तो कंधे में है, द दण्ड में, न भस्म रमाने में, न कानों में मुद्रा धारण करने में और न श्रृंगी बजाने में। वास्तविक योग तो यह है कि माया के बीच रहते हुए निर्लेप हरि में समाया रहे।'^२ निःसन्देह रूप में सिक्ख गुरुओं ने योग के प्रति आस्था व्यक्त की है, परन्तु जहाँ तक हठयोग की बात है, उसकी कठिन साधनाओं को गुरुओं ने महत्वपूर्ण माना है। हठभोग के स्थान पर सहजयोग को महत्व दिया है। गुरुनानक ने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि बिना 'नाम' के योग की सिद्धि नहीं हो सकती। 'नामजप' से ही शून्य-समाधि (असंप्रज्ञात) ब्राह्मी स्थिति, 'अनाहत शब्द

१. श्री गुरुग्रन्थ दर्शन, पृ० २३५

२. वही, २३८

विश्व के प्रमुख धर्म

की गूँज की स्थिति आती है। तभी सहजावस्था आती है। यह गुरुओं की अनुभूति से सिद्ध होता है। इसके साधन हैं- सद्गुरु की प्राप्ति, ईश्वर की भक्ति तथा नाम जप।

सहज-योग- गुरुओं ने जिस वास्तविक योग की ओर संकेत किया है वह सहज योग। सहज का अर्थ स्वाभाविक रूप में होने वाले को कहा जाता है। गुरु अर्जुन देव ने सहजयोग के विषय में बतलाया है कि 'सोना, जागना सहज ही भाव में होना चाहिए। सहज भाव से जो कुछ भी होता जाय, उसे होने दो, इसमें तनिक भी वृत्ति इधर-उधर न करनी चाहिए। सहज भव का वैराग्य, सहज भाव का हँसना सहज भाव का मौन, सहज भाव का जप होना चाहिए। इसी प्रकार जीवन के सारे व्यवहार, कर्म, सारी साधनाएँ, सारे आचार-विचार, सहज भाव में होने चाहिए।'^१

सहज-योग के साधन- सहजावस्था की प्राप्ति के लिए गुरुओं ने प्रमुख साधनों को आवश्यक माना है। जैसे ईश्वर की प्रेमाभक्ति, सद्गुरु की कृपा और अपना प्रयास। पौरुष या अपना प्रयास इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति को गुरु की तलाश करनी पड़ती है तथा दुर्मति का त्याग करना पड़ता है। सबसे बड़ा साधन नाम में आस्था और जप है। सारांश में नाम में आस्था और जप, सद्गुरु की प्राप्ति, गुरु की वाणी (सबद) के अनुसार आचरण, विषयों का त्याग और गुरु में श्रद्धा और विश्वास सहजावस्था की प्राप्ति के साधन हैं।

सहजयोग की प्राप्ति का परिणाम यह होता है कि इससे निर्वाण पद की प्राप्ति होती है। गुरुओं ने इसे मोक्ष पद, तुरीय पद, ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान आदि कहा है। सहजावस्था का आनन्द वर्णनातीत है। सिक्ख धर्म की साधना का यह चरमोत्कर्ष कहा जा सकता है। इसमें सारे योग समाहित है।

सिक्ख धर्म पर विचार करने से इसके दो सर्वोपरि तत्त्वों पर दृष्टि जाती है। जिसे बताना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम सद्गुरु का महत्व दूसरा ईश्वर नाम में निष्ठा। 'गुरुग्रंथ साहब' में सद् गुरु की महत्ता बतायी गयी है। यहाँ तक कि सद्गुरु औ ईश्वर में अभिन्नता है। ईश्वर और जीव के बीच सम्बन्ध कराने वाला या मध्यस्थता का कार्य सद्गुरु ही करता है। सद्गुरु की पहचान या उसके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं- सद्गुरु वह है जिसने सत्य को पा लिया है। जिसके मिलने से तन, मन शीतल हो जाता है। सद्गुरु समान भाव रखता है। वह निन्दा और स्तुति में समान होता है। वह ब्रह्म-विचार में निमग्न

१. वहीं, पृ० २५०

रहता है। ऐसा गुरु ईश्वर में दृढ़ निश्चय कराता है और सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि 'नाम' की प्राप्ति कराता है।

ऐसे सद्गुरु के लिए शिष्य का क्या कर्तव्य है, इसे भी बताया गया है। जैसे शिष्य-गुरु से सम्बन्ध पिता, माता, भाई, सखा, सहायक के रूप में रखे। सद्गुरु से शिष्य को कुछ छिपाना नहीं चाहिये। कहा गया है कि जिन्होंने गुरु से अपने को छिपाया है, वह बुरे हैं। उनको देखना वर्जित है, वे पापी हैं। सद्गुरु की वाणी (सबद) शिक्षा में विश्वास और उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। शिष्य को गुरु के प्रति आत्म-समर्पण करना चाहिए। ऐसे गुरु की विविध रूप में सेवा करनी चाहिए। गुरु की सेवा और उसमें विश्वास का फल यह होता है कि शिष्य को अमृत रस प्राप्त होता है। हृदय में नाथ का निवास होता है। अहंकार का नाश होता है। शाश्वत भक्ति प्राप्त होती है। निर्वाण की प्राप्ति होती है।

नाम महिमा- पवित्र ग्रंथ में ईश्वर-नाम की महिमा का भी वर्णन मिलता है। ग्रंथ में ईश्वर के तीन प्रकार के नाम मिलते हैं- हिन्दू नाम, मुसलमानी नाम और नवीन नाम। हिन्दू नाम के निर्गुण और सगुण दोनों नाम मिलते हैं- जैसे अच्युत, निरंकार, निर्गुण, सर्वाधार, स्वयंभू, अकाल मूर्ति आदि निर्गुण नाम मिलते हैं और दामोदर, मधुसूदन, हरिमोहन, मुरारी, गोपाल, केशव आदि सगुण नाम भी मिलते हैं।

मुसलमानी नामों में करीम रहीम, मौला, खुदा, पीर, शेख, अल्लाह आदि का प्रयोग मिलता है। नवीन नामों में मित्र, मीत, प्रीतम, यार आदि प्रेम सम्बन्ध व्यक्त करने वाले नाम मिलते हैं। वीर भाव को व्यक्त करने वाले नाम असिपाण, महानकाल, महालोह, सर्वकाल आदि नाम हैं।

सिक्खों में बहुत प्रचलित नाम 'वाहिगुरु' मिलता है। यह वैसे ही प्रचलित नाम है जैसे 'अल्लाह' या 'राम'। 'वाहिगुरु' ईश्वर साक्षात्कार के समय गुरु की आन्तरिक अवस्था का सूचक है। यही नाम गुरु के मुख से आश्चर्य में निकलने के कारण जप करने के लिए आवश्यक मान लिया गया। नाम जप तीन प्रकार से किय जाता है- साधारण जप, अजपा जप और लिवजप। साधारण जप जिह्वा जप है, अजपा जप श्वास प्रश्वास से होने लगता है। जिह्वा जप की आवश्यकता नहीं होती। पराकाष्ठा तब होती है जब लिव-जप होने लगे। यह सहज भाव से होता है। नाम की प्राप्ति सद्गुरु से होती है। निर्मल मन का होना भी आवश्यक है। 'नाम' से सांसारिक और परमार्थिक दोनों फल मिलते हैं।

विश्व के प्रमुख धर्म

सिक्ख धर्म के सम्प्रदाय

सिक्ख धर्म में मुख्य रूप से चार सम्प्रदाय मिलते हैं, नामधारी, अकाली, निरंकारी और नानक पंथी। नामधारी सिक्ख धर्म के मौलिक, धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करते हैं। परन्तु शुद्धि पर विशेष जोर देते हैं। धूम्रपान न करना, शराब न पीना, प्रातः स्नान करना तथा अन्य कर्मकाण्डों का निर्वाह करना आवश्यक मानते हैं। मांसाहार इनके यहाँ वर्जित है, जबकि गुरु गोविन्द सिंह द्वारा मांसाहार की स्वीकृति मिली थी। अकाली सम्प्रदाय मौलिक रूप से संघर्षशील तथा धर्म की रक्षा के लिए लड़ाई के सिद्धान्त का पालन करता है। इनका प्राचीन सिद्धान्तों से मतभेद है। आधुनिक काल में इसे राजनीतिक समूह माना जाता है। निरंकारी सिक्ख धर्म में एक विशिष्ट समूह है। इसके संगठनकर्ता गुर्वचन सिंह बताए जाते हैं। इनको ईश्वर का सन्देश लाने वाला माना जाता है। इन्होंने अपने को गुरु घोषित किया। इन्हें निरंकारी बाबा कहा गया। यद्यपि दसवें गुरु ने यह घोषित किया था कि मेरे बाद कोई गुरु नहीं होगा केवल 'गुरु ग्रंथ साहेब' ही गुरु का स्थान ग्रहण करेगा। परन्तु निरंकारी बाबा ने इसका विरोध करते हुए अपने को गुरु घोषित किया। अतः जो समूह इनके मत को मानता है वह निरंकारी कहलाता है। निरंकारी सम्प्रदाय का प्राचीन मत से बहुत अधिक विरोध है। नानक पंथ खालसा मत के सदस्य नहीं होते। इनको सिक्खों के पाँच चिन्ह (कंधा, कच्छा, केश, कृपण, कड़ा) नहीं धारण करना पड़ता। नानक पंथी केवल प्रथम गुरु नानक के मार्ग का ही अनुसरण करते हैं। सिक्खों में बहुत से लोग नानक पंथियों को सिक्ख के रूप में मान्यता नहीं देते फलतः इनका झुकाव हिन्दू धर्म की ओर होता है। एक प्रकार से नानक पंथी हिन्दू धर्म में घुल-मिल गए हैं।

सिक्ख धर्म तथा हिन्दू धर्म

सिक्ख धर्म के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इसके ईश्वर-जगत तथा परम लक्ष्य सम्बन्धी सिद्धान्त किसी भी अर्थ में हिन्दू धर्म से भिन्न नहीं प्रतीत होते। आचरण और कर्मकाण्ड की दृष्टि से सिक्ख धर्म को बाह्यडम्बरों की भर्त्सना आवश्यक करता है, परन्तु सैद्धान्तिक रूप में दोनों में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। कुछ लोगों ने, विशेषकर विदेशी लेखकों ने सिक्ख धर्म को हिन्दू धर्म से अलग करने का प्रयास किया है। परन्तु निम्नलिखित आधारों पर हम कह सकते हैं कि सिक्ख धर्म हिन्दू परम्परा में ही माना जायगा-

(१). हिन्दू धर्म की तरह सिक्ख धर्म में भी कर्म, संसार, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि की महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

सिक्ख धर्म

(२). हिन्दू परम्परा के अनेक सन्तों के भजन, गुरु ग्रन्थ साहिब में मिलते हैं, जैसे- सन्त कबीर, तुकाराम, रैदास आदि के जो हिन्दू परम्परा के ही महान सन्त, सुधाकर और कवि माने जाते हैं।

(३). सिक्खों के सामाजिक जीवन में हिन्दू परम्परा का अब भी पालन किया जाता है। जैसे- जन्म-मरण तथा विवाह आदि की क्रिया-विधि में पुरोहितों का सहयोग लिया जाता है।

(४). सिक्ख गुरुओं ने सन्त परम्परा में आने वाले महापुरुषों की तरह ही हिन्दू धर्म के सुधार के लिए ही आवाज उठायी थी। यहाँ कार्य बौद्ध तथा जैन धर्म ने भी किया था, परन्तु उन्हें हिन्दू परम्परावादी ही माना जाता है। इसी तरह सिक्ख धर्म को भी हिन्दू परम्परा में गिना जाता है।

(५). सिक्ख धर्म में हिन्दू परम्परा की अन्य अवधारणाएँ जैसे एकेश्वरवादवाद, गुरु का महत्व, नाम का महत्व आदि को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

अतः सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म और परम्परा पर ही आधारित है और इसे हिन्दू धर्म से भिन्न नहीं समझा जाना चाहिए।



ईसाई धर्म

ईसाई धर्म की ऐतिहासिकता और पृष्ठभूमि- विश्व के समस्त धर्मों में सबसे अधिक अनुगामी ईसाई धर्म के हैं। इसका पवित्र ग्रंथ 'बाइबिल' लगभग पाँच सौ विभिन्न भाषाओं में पढ़ा जा सकता है। इसका उद्भव यद्यपि पूर्व में हुआ परन्तु विकास सम्पूर्ण पश्चिमी देशों में द्रुतगति से हुआ।

ईसाई धर्म का उद्भव यहूदी धर्म से उसी प्रकार हुआ, जिस प्रकार जैन धर्म और बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हिन्दू धर्म से हुयी। अन्तर यह है कि जैन धर्म और बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म के पवित्र ग्रन्थ वेद की अस्वीकृति पर आधारित हैं, जबकि ईसाई धर्म ने यहूदी धर्म के पवित्र ग्रन्थ 'बाइबिल' का परिवर्धन, परिवर्तन एवं सुधार किया और वह एक नये धर्म के रूप में आया। ईसा के उपदेशों को देखने से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उन्होंने प्राचीन धर्म का अतिक्रमण किया है। परन्तु इसके विषय में उनसे पूछने पर यही उत्तर मिला है कि 'मेरा उद्देश्य विनाश करना नहीं पूर्ति करना है।'

पहले-पहल क्राइस्ट के शिष्ट अन्य यहूदियों की तरह यरूशलस के मन्दिर में भी पूजा किया करते थे। बाद में उन्होंने एक अलग सम्प्रदाय बना लिया; जो क्राइस्ट के देवतत्व में विश्वास करते थे; परन्तु यहूदी क्राइस्ट को मसीहा के रूप में नहीं मानते थे, क्योंकि क्राइस्ट को न तो धार्मिक रूप से कोई अधिकार मिला था और न तो राज-सत्ता ही हाथ में थी। फिर भी क्राइस्ट प्रारम्भ से ही अधिकार पूर्वक उपदेश देते थे और उनके आस-पास लोग एकत्रित होकर आश्चर्य से अभिभूत होकर उनकी बातें सुनते। उनके पीछे-पीछे चलते रहते थे। उनका चमत्कारिक प्रभाव जनता पर देखा गया। इसका और कोई कारण तो नहीं कहा जा सकता, केवल उनका ईश्वरीय गुणों से युक्त व्यक्तित्व और विनम्र स्वभाव ही माना जा सकता है। क्राइस्ट ने अपने देशवासियों को ईश्वर-भक्त के रूप में प्रभावित किया। ऐसा भक्त जो अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरों के लिए जीवित रहता है। उनका प्रभाव और प्रसिद्धि एक दूसरे कारण से भी है कि उन्होंने चमत्कारिक ढंग से लोगों के रोगों और शोकों को दूर किया। जैसे अन्धों को चंगा करना, कुछ न रहते हुये भी बहुत बड़ी भूखी-प्यासी भीड़ को खिलाकर सन्तुष्ट करना, लोगों के भीतर से दुरात्मा को भगाना और यहाँ तक की मृत व्यक्ति को जीवित कर देना। उनके यह सभी कार्य अति प्राकृतिक

ईसाई धर्म

थे। इन सभी कार्यों से लोगों में यह विश्वास जगा कि क्राइस्ट में यह सभी आश्चर्यजनक शक्तियाँ किसी अन्य स्रोत से नहीं बल्कि स्वयं ईश्वर से ही प्राप्त हुयी है। इतना ही नहीं ईसा के ये कार्य उनके लिए प्रमाण-पत्र सिद्ध हुये। अन्त में ये कार्य और उनके गुण तथा चमत्कार अत्यन्त ही मूल्यवान और महत्वपूर्ण प्रतीत हुये, जबकि लोगों ने देखा कि क्राइस्ट ने चमत्कारों का उपयोग अपने लिए नहीं बल्कि दूसरों के हित के लिये ही किया। क्राइस्ट ने दूसरों को तो विपदाओं और यातनाओं से बचाया परन्तु स्वयं जब क्रॉस पर लटकाये गये तब न तो चमत्कार का उपयोग किया और न ही ईश्वर के हस्तक्षेप के लिए ही उनसे प्रार्थना की कि ईश्वर उनको सजा दे जो कि उनको कोड़े मार रहे थे या उनको क्रॉस पर लटका कर उनके हाथ में कीलें गाड़ रहे थे। इन अन्याय का भी उन्होंने प्रतिरोध नहीं किया बल्कि इसके विपरीत उनके मुँह से यही निकला कि ईश्वर इनको क्षमा करें क्योंकि ये जानते नहीं कि ये क्या कर रहे हैं। अपने चमत्कारों से अपने रक्षा क्राइस्ट ने नहीं की। लोगों में यही भावना दृढ़ होती गयी कि क्राइस्ट ईश्वर द्वारा भेजे हुए थे और उन्होंने मानव जाति के पापों का भोग स्वयं भोगा। जीसस क्राइस्ट का ऐसा था अद्भुत जीवन और उनके कार्य भी अलौकिक थे। निश्चित ही सामान्य व्यक्ति का जीवन ऐसा नहीं होता। यहूदी जाति में मसीहा की धारणा तो थी ही, साथ ही यह भावना प्रबल हो रही थी कि मसीहा का आगमन होगा। क्राइस्ट मसीहा के रूप में अवतरित हुये। उन्होंने आते ही अद्भुत चमत्कारिक कार्य तो किये ही साथ ही उपदेश भी इस प्रकार के दिये जाने लगे कि उनको लोग आश्चर्यजनक दृष्टि से देखने लगे। आश्चर्य की बात यह है कि उनके सभी उपदेश प्राचीन मत से नितान्त भिन्न प्रतीत होने लगे। लोगों ने यह समझा कि बिना धार्मिक अधिकार के प्राचीन मत का विरोध करने वाला यह व्यक्ति कौन है? यह भी सत्य है कि चली आती हुयी परम्परा का मोह जल्दी छोड़ा नहीं जाता। परम्परा के विपरीत कार्य और उपदेश करने वालों को लोग आश्चर्य और विस्मय की दृष्टि से देखते हैं। अब हमें देखना यह है कि क्राइस्ट ने क्या सचमुच एक ऐसे नवीन धर्म का प्राचार किया जो कि प्राचीन मत में नहीं था, या उसका बिल्कुल विरोध किया, या उसी प्राचीन धर्म में ही कुछ नवीनता उत्पन्न की।

कुछ लोगों का यह दावा है कि क्राइस्ट के उपदेशों में मौलिकता है। उन्होंने एक नितान्त भिन्न नवीन धर्म की स्थापना की है। इसलिये यहूदी धर्म से अलग ईसाई धर्म की संज्ञा प्रदान की गयी। परन्तु ऐसे लोगों की यह धारणा इस सार्वभौमिक सत्य के आधार पर सत्य प्रतीत नहीं होती। 'Exuihio uihil fit' 'ना भावो विद्यते सतः।' धर्म का इतिहास भी यह सिद्ध करता है कि रहस्यवादी धर्मों में जितने भी पैगम्बर या अवतार की कोटि कहे

विश्व के प्रमुख धर्म

जाने वाले महापुरुष हुए हैं, सदैव ही अपनी पिछली परम्परा के आधार पर ही अपने मतों अथवा धर्मों की स्थापना करते हैं। बुद्ध ने वैदिक धर्म के प्रति एक आन्दोलन प्रारम्भ किया था और इसी से बौद्ध धर्म की स्थापना हुयी थी। मुहम्मद साहब ने अपने धर्म की नीव परम्पराओं के विरोध में आन्दोलन प्रारम्भ करके ही खड़ी की थी। यही नीं इन धर्मों में जितनी शाखाएँ, प्रशाखाएँ हुयीं उनकी भी आधार भूमि सदैव ही पिछली परम्पराएँ ही रही हैं। इन पैगम्बरों ने जर्जर परम्पराओं और उनमें आई हुयी अव्यवस्थाओं का सदैव विरोध किया है और युग के अनुकूल एक स्वस्थ धर्म की स्थापना की है। धर्म में जब भी सड़ांध उत्पन्न हुई है, व्यतिक्रम एवं गतिरोध उत्पन्न हुआ है, तब समाज ने ऐसे ही जागरूक प्रहरी, आत्मज्ञ पुरुषों, युग बोध कर्त्ताओं, धार्मिक नेताओं, सुधारकों, रहस्वादियों और अवतारी महापुरुषों को जन्म दिया है। यही धर्म की गतिशीलता है। धर्म को तोड़-फोड़ गठन और परिमार्जन सदैव से होता रहा है। प्राचीनता में ही नवीनता के उद्भव की संभावना निहित रहती है। धर्म के आभ्यान्तरिक तत्व पिछली परम्पराओं में ही रहते हैं, केवल उनके आवरण और उनके दोषों को ही इन पैगम्बरों द्वारा हटाया जाता है। इसी अर्थ में तो धर्म सनातन कहा जाता है। धर्म की मानवशास्त्रीय व्याख्यायें जितनी भी हुयी हैं, उनसे भी यही पता चलता है कि धर्म का विकास उनकी आभ्यान्तरिक पृष्ठभूमि में ही हुआ है।

हम यहूदी धर्म के मूल सिद्धान्तों को देख चुके हैं। अब हम यहाँ ये देखने का प्रयास करेंगे कि क्राइस्ट ने किस प्रकार प्राचीन यहूदी धर्म में परिवर्तन उत्पन्न करके नवीन धर्म की स्थापना की है। क्राइस्ट के पहले यहूदी धर्म, कर्म-काण्ड, लौकिक व्यवहार एवं रीति-रिवाज तथा परम्पराओं पर ही अत्यधिक बल देता था। क्राइस्ट ने इन प्रथाओं और परम्पराओं का बड़े ही जोरदार ढंग से खण्डन किया था। जहाँ प्राचीन, धार्मिक नेताओं और सन्तों ने कर्म-काण्ड, छूआछूत तथा स्वच्छता आदि का पालन किया था वहीं क्राइस्ट बिना इन पर ध्यान दिये भटिहारों तथा पापियों के साथ खान-पान करते थे। क्राइस्ट 'हाथ धोने' को कम महत्व देते थे। जिन खाद्य-पदार्थों पर अंकुश लगाये गये थे, क्राइस्ट उनको भी खाने के लिये स्वीकृति प्रदान करते थे। उपवास, व्रत तथा अन्य नियमों का पालन धर्माचार्यों द्वारा अनिवार्य बतलाया गया था, परन्तु क्राइस्ट ने उनको महत्व नहीं प्रदान किया। इतना ही नहीं क्राइस्ट प्राचीन तथा नवीन के मिलन की सम्भावना में विश्वास नहीं करते ज्ञात होते हैं। वे कहते हैं- 'कोरे कपड़े का पैवन्द पुराने पहिरावन पर कोई नहीं लगाता, नहीं तो वह पैवन्द उसमें से कुछ खींच लेगा।' या नये दाखरस को पुरानी मशकों में कोई नहीं रखता, नहीं तो दाखरस मशकों को फाड़ देगा और दाखरस तथा मशके दोनों

ईसाई धर्म

नष्ट हो जायेंगा, परन्तु दाख का नया रस नयी मशकों से भरा जाता है।' (मरकुस-२/२१-२२) पुनः क्राइस्ट का कथन है कि 'पात्र मत देखों बल्कि यह देखों कि इसमें क्या है, एक नया बर्तन पुरानी शराब से भरा हो सकता है। वास्तव में नयी शराब नये बोतल में ही होनी चाहिये।' इसी तथ्य से को आगे पुनः कहा गया है- 'स्वर्ग का राज्य उस बड़े जाल के समान है जो समुद्र में डाला गया और हर प्राकार की मछलियों को समेट लिया और जब भर गया तो उसको किनारे पर खींच लाये और बैठकर अच्छी-अच्छी तो बर्तनों में इकट्ठा किया और निकम्मी-निकम्मी फेंक दी। जगत के अन्त में ऐसा ही होगा। स्वर्गदूत आकर दुष्टों को धर्मियों से अलग करेंगे और उन्हें आग के कुण्ड में डालेंगे। वहाँ रोना तथा दाँत पीसाना होगा। एक शास्त्री जो स्वर्ग के राज्य का चेना बना है उस गृहस्थ के समान है जो अपने भण्डार से नई और पुरानी वस्तुएँ निकालता है।' (मत्ती १३/४५-५२)

क्राइस्ट के उपरोक्त उपदेशों से इतना तो स्पष्ट है कि धर्माचार्य और पण्डित जो स्वर्ग के राज्य में विश्वास करते हैं वे उस गृहस्थ के समान हैं जो अपने भण्डार से नई और पुरानी सभी वस्तुएँ निकालता है। वे इतने सबल और दृढ़ नहीं हैं कि पुराने को हटा दें, जिससे कि नया सुरक्षित रहे। वे निरर्थक और सार्थक सभी वस्तुओं को मिलाकर रखते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार गृहस्थ अपने भण्डार में नई और पुरानी वस्तुएँ रखता है। परन्तु ईसा स्वर्गराज्य का बादशाह मसीहों में बादशाह नये को पुरानी से अलग करना चाहता है। वह नये को नये बर्तन में रखना चाहते हैं और पुराने को फेंक देना चाहते हैं।

उपरोक्त कथनों से यहाँ दो अर्थ निकाले जा सकते हैं। एक तो यह कि क्राइस्ट ने नितान्त मौलिक और नवीन धर्म की स्थापना की है और दूसरे यह प्राचीन धर्म में से देश और काल के अनुकूल सार्थक और उपयोगी मतों को तो ले लिया परन्तु जो व्यर्थ और आडम्बर युक्त सिद्धान्त हैं उन्हें छोड़ दिया। वास्तव में हमारी दृष्टि से क्राइस्ट न तो नितान्त मौलिक ही हैं और न ता प्राचीन धर्म को मौलिक रूप से स्वीकार ही किया है। क्राइस्ट लकीर के फकीर नहीं थे। प्राचीन धर्म के भण्डार से मनोनुकूल, उपयोगी और सार्थक सिद्धान्तों को लेकर उसकी नवीन व्याख्या की है। यही उनकी प्राचीनता में नवीनता है। कहना न होगा कि उनके धर्म की आधार-भूमि तो प्राचीन धर्म ही है। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उस प्राचीन धर्म की हर पग पर नई व्याख्या की है। यही उनकी मौलिकता कहीं जा सकती है। इसके उदाहरण संख्या में नहीं दिये जा सकते।

क्राइस्ट ने यह पूछने पर कि चिरन्तन जीवन की प्राप्ति कैसे हो? इसके उत्तर में प्राचीन धर्म के दस आदेशों में से केवल उन्हीं छः आदेशों को लेते हैं जो मुख्तया स्पष्ट

विश्व के प्रमुख धर्म

मानवीय नैतिक सिद्धान्त हैं और चार आदेशों को छोड़ देते हैं जो कर्म-काण्ड या धार्मिक कर्तव्यों के अन्तर्गत आते हैं।

यहूदी धर्म के प्रति क्राइस्ट की इस प्रतिक्रिया को जॉसेफ, क्लौसनर ने अचेतन मनोवृत्ति को उत्तरदायी माना है। क्योंकि धर्म सम्बन्धी क्रियाएँ तो क्राइस्ट भी करते थे, परन्तु यहूदी धर्म के याजकों की तरह नहीं, फिर भी उन धार्मिक कृत्यों का उन्होंने बहिष्कार किया है। इस प्रवृत्ति को मूल प्रवृत्त्यात्मक ही कहना चाहिये न कि चेतन। क्राइस्ट की कहावतों तथा उनके शिष्यों के कृत्यों द्वारा तथा कुछ समय उनके स्वयं के कार्यों द्वारा (जैसे रोगियों को ठीक करना) और इन कथनों द्वारा कि कि 'प्राचीन समय में तुमसे यह कहा गया है- (लिखित या मौलिक रूप में) परन्तु मैं तुमसे कहता हूँ और सर्वोपरि धर्माचार्यों पर वाक् प्रहार से क्राइस्ट कर्म-काण्ड के महत्व को कम करते हैं तथा उनको गौण स्थान देते हैं। क्राइस्ट रीतिगत तथा परम्परागत कर्मकाण्ड को लगभग निरर्थक सिद्ध करते हैं।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि 'लगभग' शब्द का उपयोग इसीलिए किया जाता है कि क्राइस्ट ने अपनी शिक्षाओं को कभी भी अन्तिम निष्कर्ष के रूप में नहीं दिया है। कहा जाता है कि उन्होंने स्वयं कर्मकाण्ड सम्बन्धी नियमों का पालन जीवन के अन्तिम समय तक किया है। (यद्यपि इन नियमों को पण्डितों और धर्माचार्यों की तरह पूर्ण नहीं किया है।)^१

लेखक का यह कथन बहुत सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि क्राइस्ट ने जब यहूदी धर्म की कमियों का ज्ञान हुआ और जब उनके ज्ञान और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई^२ तब उन्होंने अपने उपदेशों तथा कार्यों में परिवर्तन उत्पन्न किया है। उनके जीवन में परिवर्तन के क्षण आये हैं, जिसे धर्म-मनोविज्ञान की भाषा की 'कनवर्जन' कहा जाता है। डॉ० राधाकृष्णन ने क्राइस्ट के विषय में यह ठीक ही लिखा है कि - 'इसमें कोई संदेह नहीं कि ईसा के जीवन में एक अवस्था ऐसी आ गई थी जब उनको सार्वभौमिकता और प्रेम की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई थी।'^३ ऐसी अनुभूति होने पर क्राइस्ट ने यहूदी धर्म के अनेक मतों का विरोध किया। जहाँ यहूदी धर्म ईश्वरीय राज्य में केवल पुण्यात्मा और न्यायानिष्ठ व्यक्तियों को ही प्रवेश देता है वहाँ क्राइस्ट इस मत को चुनौती देते हैं और कहते हैं कि 'मैं पापियों को

१. जॉसेफ क्लौसनर-नेसस ऑफ नाजरथ, पृ० ३७०-७१

२. ल्यूक/२/५२

३. डॉ० राधाकृष्णन-प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० १९०

ईसाई धर्म

पश्चात्ताप करने के लिए कहने को आया हूँ।' यहूदी धर्म में पड़ोसी से प्रेम करने की बात बार-बार कही गई है। पड़ोसी का साधारण अर्थ पड़ोसी में रहने वाला ही माना गया है, परन्तु क्राइस्ट की सार्वभौमिक दृष्टि तो और ही है। क्राइस्ट ने कहा 'कोई भी आदमी जो परेशानी में हो उसकी जाति या राष्ट्रीयता चाहे जो हो, ऐसे परेशानी में होने वाले व्यक्ति पर जो तरस खाये वही उसका पड़ोसी है।'^१

यहूदी धर्म धार्मिक अनुष्ठानों को तूल देता है, परन्तु क्राइस्ट ने इसका विरोध किया और इसके स्थान पर 'ईसा ने एक उच्चतर जीवन में पुनर्जन्म लेने पर विधि-नियम के बन्धन से ऊपर उठकर कार्य करने पर बल दिया है' यहूदी धर्म भौतिकवादी और सुखवादी प्रवृत्ति का प्रचार करता है। 'उसमें तप एवं संयम जैसी कोई चीज या तो है ही नहीं या है तो बहुत कम, परन्तु ईसा के विचारों में पारलौकिकता के दर्शन होते हैं। यह बात ईसा के बपतिस्मा और पुनरुत्थान से सम्बन्धित विचारों से स्पष्ट हो जाती है। बपतिस्मा के पश्चात् आध्यात्मिक जन्म होता है और देहोत्थान का अर्थ आत्मोत्थान और ईश्वर सान्निध्य है। डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है कि ईसा यहूदी धारणाओं को अपने निजी अनुभवों के प्रकाश में परिवर्धित और परिवर्तित करते हैं। ईश्वरीय राज्य, शाश्वत जीवन, तपश्चर्या पर बल और भावी जीवन-सम्बन्धी उनकी शिक्षाएँ यहूदी परम्परा से दूर पड़ जाती हैं और हिन्दू तथा बौद्ध विचारणा के साथ उनका साम्य दृष्टिगत होता है।

“यद्यपि उनकी शिक्षाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से जूडावाद के ठीक बाद की हैं, तो भी तात्त्विक दृष्टि से ईसाइयत का विकास जूडावाद में से नहीं हुआ है।”^२ डॉ० राधाकृष्णन के इस कथन के आधार पर कि ईसा यहूदी धारणाओं को अपने निजी अनुभव के प्रकाश में परिवर्द्धित और परिवर्तित करते हैं, तो यह सिद्ध होता है कि क्राइस्ट ने प्राचीनता में नवीनता उत्पन्न की है, परन्तु यह कहना कि ईसाई मत का विकास जूडावाद में से नहीं हुआ है, ठीक नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि ईसाई धर्म में ऐसा कुछ नहीं है जो यहूदी धर्म में न रहा हो, हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि क्राइस्ट अपने आस-पास के धार्मिक वातावरण से अप्रभावित नहीं थे। एसेनी मत तथा भारतीय मत का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। सर्वोपरि क्राइस्ट की अन्तः अनुभूति प्राचीनता में नवीनता उत्पन्न करने में पर्याप्त सहायक कहीं जा सकती है। उनके नैतिक सिद्धान्त इस कोटि तक पहुँचे हुए हैं, जिनको विश्व के अन्य धर्मों में ऐसा न देखा जाता है और न ही उनकी ऐसी सूक्ष्म अन्तःमूलक व्याख्या ही की जा

१. ल्यूक १०/२५-३७

२. डॉ० राधाकृष्णन-प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० १९५

विश्व के प्रमुख धर्म

सकती है। प्रत्येक युग का एक महापुरुष होता है जो धर्म की व्याख्या अपने निजी अनुभवों के आधार पर करता है। यही उसका अपनी निजी विशेषता होती है। इसीलिए वह युग-पुरुष भी कहा जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म इन युग पुरुषों के कारण ही अपना अलग स्थान और महत्व रखता है। हम यहूदी तथा ईसाई धर्म को ही लें तो देखेंगे कि ईसाई धर्म वहीं से प्रारम्भ होता है जहाँ यहूदी धर्म सर्वोच्च बिन्दु तक पहुँच चुका था। त्रयवस्था विवरण में यह सर्वोच्च लक्ष्य स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है कि 'तुम अपने परमेश्वर यहोवा से अपने सारे मन, सारे जीव और सारी शक्ति के साथ प्रेम रखता'^१ ईसाई धर्म ने इसी विचार को ग्रहण किया, और अपने धर्म को मूल आधार बनाया। ईसा से यह पूछे जाने पर कि 'सबसे मुख्य आज्ञा कौन-सी है? ईसा का उत्तर यही हुआ कि तुम अपने परमेश्वर से, अपने सारे मन से और अपने सारे प्राण से, अपनी सारी बुद्धि से और अपनी सारी शक्ति से प्रेम रखना' और दूसरी मुख्य आज्ञा पड़ोसी से प्रेम रखना है।^२ परन्तु इसके सम्बन्ध में यहूदी तथा ईसाई धर्म में अन्तर यह है कि जहाँ यह मत यहूदी धर्म में केवल अनुमान या कल्पना मात्र है वहाँ ईसाई धर्म में वास्तविकता है। यहूदी धर्म के पैगम्बरों ने जो कुछ धुँधले प्रकाश में देखा था वही क्राइस्ट के उपदेशों में गतिशील विश्वास के रूप में हो गया।

ईश्वर

यहूदी धर्म में ईश्वर विश्व की नैतिक व्यवस्था का शासक और सर्वोच्च अधिकारी के रूप में मान्य है परन्तु ईसाई धर्म में वही ईश्वर, प्रेम स्वरूप पिता के रूप में है और वह अपने आराधकों से प्रेम चाहता है तथा प्रतिपाद में प्रेमदान करने वाला है। ईसा का ईश्वर केवल न्यायी, पवित्र एवं शक्तिमान ही नहीं है, बल्कि वह दयावान और क्षमाशील भी है। सन्त जॉन ने ठीक ही कहा कि मूसा ने नियमों को दिया परन्तु क्राइस्ट ने सत्य और कृपा को स्थान दिया। ईश्वर सम्बन्धी ऐसी विचारधारा ने क्राइस्ट के धर्म को यहूदी धर्म से श्रेष्ठ बना दिया। यहूदी के पैगम्बरों को दैवी प्रकाशन केवल इतना ही हुआ कि ईश्वर एक है (एकतत्त्ववाद) परन्तु क्राइस्ट को केवल इतना ही दैवी प्रकाशन नहीं हुआ बल्कि उनके यह भी अनुभूति हुयी कि वह एक मात्र परम सत्ता अपरिमित रूप में प्रेम स्वरूप है। प्राचीन धर्म में कुछ ही स्थलों पर ईश्वर को पिता के रूप में सम्बोधित किया गया है उसमें तो ईश्वर केवल स्वर्ग और पृथ्वी का राजा है, परन्तु ईसाई धर्म में ईश्वर क्षमाशील पिता के रूप में

१. वही, ६/६

२. मरकुस (१२/३०-३१, ल्यूक १०/२७)

ईसाई धर्म

कहा गया है। वह अपनी सन्तानों के पापों को सदैव क्षमा करने के लिए तैयार रहता है। यहूदी धर्म में ईश्वर-प्रेम से बढ़कर 'ईश्वर के नियमों से प्रेम' को स्थान दिया है। ईश्वर मालिक है और पैगम्बर तथा इजाराइल को दास के रूप में कहा गया है। क्राइस्ट ईश्वर के पुत्र के रूप में है और मानव-मात्र के स्थान पर ईश्वर की सन्तान हैं। ईश्वर को प्यार करना है तो ईश्वर की सन्तान को प्यार करना ही है। इस प्रकार क्राइस्ट के धर्म में पितृत्व तथा बन्धुत्व को सर्वोपरि महत्व दिया गया है।

यहूदी धर्म में भिन्न, क्राइस्ट, ईश्वर की धारणा में एक दूसरी नवीन धारणा प्रस्तुत करते हैं, वह है सर्वव्यापी ईश्वर। ईश्वर केवल विशेष पर्वत की चोटी पर रहने वाला या यरूशलम के मन्दिर में ही रहने वाला नहीं, बल्कि वह मनुष्य के अत्यन्त निकट भी है और सर्वत्र वर्तमान भी है। ईश्वर आत्मरूप है और जो ईश्वर की पूजा करते हैं वे अवश्य ही उसकी पूजा आत्मा में करेंगे। ईश्वर सम्बन्धी ऐसी धारणा को क्राइस्ट के व्यक्तिगत धार्मिक जीवन में देखा जाता है। ईश्वर-सान्निध्य का अनुभव उनकी साधना में मिलता है, जबकि वे एकान्त में ध्यान की अवस्था में साधनारत होते थे। यहूदी धर्म में कहा गया है 'यहोवा ईश्वरों का परमेश्वर और प्रभुओं का प्रभु है वह महान पराक्रमी और भय योग्य ईश्वर है।'^१ ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसी धारणा क्राइस्ट को स्वीकार नहीं है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें भली और बुरी सभी वस्तुओं पर एक समान रूप से पड़ती हैं और उन्हें सूखा देती हैं, उसी प्रकार ईश्वर की कृपा भले, बुरे, पापी और पुण्यवान सभी के लिए समान रूप से होती है।^२ ईश्वर भय योग्य नहीं प्यार योग्य है। भय बाह्य वस्तुओं से होती है, ईश्वर आन्तरिक शक्ति है, अन्तरात्मा है। जीवन से अलग नहीं है, अतः जैसे हम अपने शरीर या अपने निकट रहने वाली वस्तुओं में प्यार करते हैं, वैसे ही ईश्वर से प्यार किया जाता है न कि भय। ईश्वर को चरित्रवान और पुण्यकर्म करनेवाले पुत्र से प्रेम तो है ही, परन्तु उससे भी बढ़करा उस कुकर्मों पुत्र से प्रेम है जो अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को नष्ट करके कंगाल हो जाता है, परन्तु पुनः पिता के पास आ जाता है। पिता बिछुड़े हुए पुत्र से मिलकर प्रसन्न होता है।^३ क्राइस्ट की यह नीति ईश्वर को भय योग्य नहीं सिद्ध करती। अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि यहूदी धर्म के नैतिक एकतत्त्ववाद को जीसस क्राइस्ट ने एक नवीन आयाम दिया। ईश्वर की धारणा क्राइस्ट के धर्म में आकर अत्यधिक वैयक्तिक एवं अत्यधिक

१. व्यवस्था विवरण १०/१७

२. मती-५/४५

३. लूका- १५/११-३२

विश्व के प्रमुख धर्म

सार्वभौमिक बन गयी। प्रेम ईश्वर का प्रमुख गुण है। इसके पहले इसकी चर्चा नहीं हुयी थी।^१ यहूदी धर्म ईश्वर के गुणों की चर्चा करता है। उसके अनुसार ईश्वर शुभ तो है परन्तु वह न्यायी भी है। वह दयावान और कृपालु तो है परन्तु अपराध को मुक्त नहीं कर सकता। उसे क्षमा-दान नहीं दे सकता। यही कारण है कि यहूदी धर्म ईश्वर को 'हमारे पिता', 'हमारे बादशाह' कहता है। वह केवल दयावान पिता ही नहीं वरन् न्याय कर्ता बादशाह है। 'सामाजिक व्यवस्था का ईश्वर' है। वह 'राष्ट्र का ईश्वर' तथा 'इतिहास का ईश्वर' है। इसके विपरीत क्राइस्ट की दृष्टि में ईश्वर सार्वभौमिक है। वह देश-काल तथा व्यक्ति तय सीमित रहने वाला सत्ता नहीं है।

त्र्येक परमेश्वर (Trinity)

ईसाई धर्म में ईश्वर की अनेक विशेषताएँ बतायी गयी हैं जैसे- ईश्वर चरम सत्ता है, ईश्वर व्यक्तित्व पूर्ण है, ईश्वर एक है, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। उसमें अनन्त दृष्टि, ज्ञान, करुणा, ऐश्वर्य है। वह न्यायी, परोपकारी तथा पवित्र है। वह नैतिक शासक है। वह संसार का निर्णायक है। वह विश्वातीत, व्याप्त और जगत से परे भी है। वह मानवता का ईश्वर है। वह प्रेममय है। क्षमाशील, उद्धारकर्ता और पिता के रूप में है।

इन सम्पूर्ण विशेषताओं के अतिरिक्त ईसाई धर्म के त्र्येक की कल्पना की गयी है। सुसमाचार में अनेक बाद ईश्वर को पिता से सम्बोधित किया गया है। ईसा ने अपने को ईश्वर का पुत्र कहा है। इस प्रकार ईसाई धर्म में त्रिमूर्ति या त्र्येक परमेश्वर का उल्लेख किया गया है-

१. ईसा,
 २. ईसा के पिता अर्थात् ईश्वर और
 ३. उनकी पवित्र आत्मा (God the father, God the Son and God the Holy spirit)। ईसाई धर्म में ईश्वर के तीन रूप माने गये हैं। यही त्र्येक परमेश्वर की धारणा है।
- त्र्येक परमेश्वर की धारणा का विवेचन -**

यद्यपि ईसा मसीह ने स्वयं अपने को ईश्वर नहीं कहा है, परन्तु उनकी अद्भुत शक्ति तथा उनका ईश्वर-प्रेम इतना उच्चकोटि का था कि उनमें ईश्वरत्व का स्पष्ट रूप दिखाई देता था। उन्हें ईश्वर की सत्ता का सतत् अनुभव होता था। ईसा स्वयं ईश्वर के रूप थे। असीम प्रेम-दान, क्षमा तथा सान्त्वना देना ईसा से ही संभव था। उनका व्यवहार ईश्वर

१. ड. गैरेट वेक्स तथा अन्य-एक्सपीरियन्स रीजन ऐण्ड फेथ, पृ० १८३

ईसाई धर्म

तुल्य था। फिर भी ईसा अपने को ईश्वर न कहकर ईश्वर का पुत्र कहते थे और यह भी बहुत जोर देकर कहते हैं कि मेरे द्वारा ही कोई ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। वे अपने से महान् ईश्वर को कहते थे। इस प्रकार पुत्र के रूप में ईसा एक सत्ता थे और पिता के रूप में परमेश्वर तो एक मात्र सत्ता है ही।

जीव या आत्मा के रूप में ईसा को अविनाशी कहा गया है। सन्त पाल ने ईसा के विषय में कहा कि ईसा जन्म से पहले भी थे और मृत्यु के पश्चात् भी हैं। ऐसी धारणा इसलिए भी सत्य प्रतीत होता है कि उनका जन्म बिना पिता के हुआ है। ईसा स्वयं, पुत्र के रूप में ईश्वर पिता के रूप में तथा उनकी आत्मा ये तीनों ईश्वर के तीन रूप हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि ये तीनों रूप ईश्वर के ही हैं। अतः यदि यह आलोचना की जाय कि क्या ईसाई एकेश्वरवाद सचमुच एकेश्वरवाद रह जाता है? इसमें तो पिता, पुत्र तथा आत्मा को भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। फिर इनको एक कैसे कहा जा सकता है? यदि ये भिन्न-भिन्न हैं तो उन्हें एक मानना क्या आत्मा विरोधी नहीं है? यदि वास्तव में ईश्वर एक है तो ईसा तथा पवित्र आत्मा को ईश्वर के तुल्य नहीं मानना चाहिए। यदि इन तीनों को एक माना जाय तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि तीन व्यक्ति मिलकर एक कैसे हो सकते हैं? व्यक्ति का व्यक्तित्व होता है और व्यक्तित्व होने पर अलगाव अपने आप सिद्ध हो जाता है। अतः त्र्येक परमेश्वर की धारणा गलत है।

यदि इन आक्षेपों का उत्तर दिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म का एकेश्वरवाद बिल्कुल सत्य है क्योंकि हम गलती से त्र्येक ईश्वर को ईश्वर त्रय (तीन ईश्वर) मान लेते हैं। त्र्येक ईश्वर, एक ही ईश्वर के तीन रूप हैं, न कि तीन ईश्वर। पुत्र के रूप में ईसा अपने को ईश्वर के साथ एकता का अनुभव करते हैं। पवित्र आत्मा एक शक्ति के रूप में है जो ईश्वर के प्रेम से प्राप्त हुआ है। वास्तव में ईश्वर एक है। ईसा पैगम्बर के रूप में हैं और आत्मा ईश्वर की शक्ति है। यही पवित्र आत्मा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। जैसे हिन्दू धर्म में सत् चित् आनन्द की धारणा है, वैसे ही ईसाई धर्म में सत् ईश्वर है, चेतना पुत्र है और आनन्द आत्मा है। हिन्दू धर्म में ब्रह्मा, विष्णु, महेश को एक ही ईश्वर की तीन शक्तियाँ माना गया है। इनको तीन ईश्वर की संज्ञा नहीं दी गयी है। इसी तरह ईसाई धर्म में ईश्वर, पुत्र तथा आत्मा एक ही ईश्वर की तीन शक्तियाँ हैं। तीन ईश्वर नहीं। यही त्र्येक परमेश्वर का अर्थ है।

नैतिकता- ईसाई धर्म के नैतिकता का सर्वोच्च रूप शैलोपदेश में मिलता है। क्राइस्ट की नैतिकता रूपी मुकुट में यह दीप्तमान मणि के सदृश है। सबसे महत्वपूर्ण बात इसके सम्बन्ध में यह है कि मानव जाति नैतिकता के सम्बन्ध में जिस सीमा तक चिन्तन कर

विश्व के प्रमुख धर्म

सकती है, क्राइस्ट का चिन्तन वहाँ तक पहुँच चुका है। क्या इसके आगे भी नैतिकताकी बात सोची जा सकती है, इसके विषय में स्वीकारात्मक उत्तर देना सम्भव नहीं प्रतीत होता। विश्व के सभी धर्मों में नैतिकता और धर्म सम्बन्धी उपदेश मिलते हैं, परन्तु ईसाई धर्म जैसी आन्तरिकता अन्य धर्मों में नहीं प्राप्त होती। यदि हम यहूदी धर्म को ही लें तो उसमें पाप-कर्मों के निषेध पर निस्सन्देह रूप में बल दिया गया है, परन्तु उसको वैधानिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। बाह्य रूप से मनुष्य उसका पालन करने के लिए बाध्य किया गया है। यहूदी पैगम्बरों ने हत्या, चोरी इत्यादि कर्मों की भर्त्सना की है, परन्तु बाह्य रूप से। क्राइस्ट ने इन कर्मों के आन्तरिक स्रोतों पर ही आक्रमण किया है, जहाँ से इनकी उत्पत्ति होती है। उन्होंने मनुष्य के लिए किये गये कर्मों से सम्बन्धित धारणा में परिवर्तन उत्पन्न किया और वैधानिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता की दृष्टि दी। उदाहरण के लिए क्राइस्ट ने इतना ही पर्याप्त नहीं समझा कि मनुष्य अपने को हत्या करने से रोके, बल्कि उन्होंने यह बताया कि मनुष्य को उन आन्तरिक शक्तियों पर नियंत्रण करना चाहिए जिनसे यह कार्य होता है। अर्थात् हत्या करने को रोकने की अपेक्षा क्रोध पर नियंत्रण आवश्यक है। यहूदी धर्म में इस प्रकार का दृष्टिकोण कहीं देखने को भी नहीं मिलता। क्राइस्ट ने अपने मार्ग-दर्शक प्रकाश को हृदय पर डालकर उसे यह दिखाया कि तुम अपने अन्दर देखो और आन्तरिक कुप्रवृत्तियों और वासनाओं को पहचानो, उनको रोको और उनमें सुधार की संभावनाओं पर विचार करो। विनाश की अपेक्षा सुधार आवश्यक है।

ईसाई धर्म में सर्वोच्च धार्मिक कर्तव्य शुद्धता का पालन है। व्यभिचार के सम्बन्ध में क्राइस्ट के उपदेश यहूदी धर्म के उपदेशों को बहुत आगे हैं। क्राइस्ट के उपदेश में हृदय की पूर्ण शुद्धता पर ही बहुत अधिक बल दिया गया है। जहाँ यहूदी धर्म में पर-स्त्री-गमन व्यभिचार है वहाँ क्राइस्ट की दृष्टि में पर स्त्री को वासनापूर्ण दृष्टि से देखना मात्र ही व्यभिचार है। अतः पाप की आन्तरिकता पर यहूदी धर्म के पैगम्बरों ने कभी भी क्राइस्ट से अच्छा प्रकाश नहीं डाला है। दूसरी ओर अपराध अथवा पाप के प्रति दृष्टिकोण और बदला लेने की भावना के विषय में यहूदी परम्परा और ईसाई मत में बहुत बड़ा अन्तर है। यहूदी धर्म में 'आँख के बदले आँख' और 'दाँत के बदले दाँत' बदला लेने की अधिकतम सीमा है, जो प्राकृतिक प्रवृत्तियों से प्रेरित है। परन्तु हम जानते हैं कि नैतिकता का अस्तित्व प्राकृतिक प्रवृत्तियों को स्वतन्त्र छोड़ देने से नहीं रह सकता बल्कि इनको नियन्त्रण में रखने से ही संभव है। क्राइस्ट इन प्रवृत्तियों को केवल सही दिशा देने की ही बात नहीं करते वरन् वह विश्वास प्रकट करते हैं कि अन्त में पाप और अशुभ कर्मों पर शुभ या दया की

ईसाई धर्म

ही विजय होती है। यह आत्मिक शक्ति ही विजय होती है। क्षमा सबसे बड़ी आत्मिक शक्ति है, जिसका अमिट और सफल प्रभाव अवश्य दिखाई पड़ता है। कुछ आलोचकों और चिन्तकों द्वारा क्षमाशीलता की भर्त्सना की जाती है और बताया जाता है कि यह निर्बलता और कायरता का चिन्ह है। नीत्से ने क्राइस्ट के इस मत का परिहास किया है और इसे स्त्रैणगुण बतलाया है। कुछ लोगों ने तो क्षमाशीलता और अहिंसा को इस शक्ति-पिपासु युग के लिए अनिश्चित और व्यवहार्य बतलाया है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि मनुष्य जब तक अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं रख सकता तब तक हिंसा से हिंसा की ही वृद्धि होगी और हिंसा से अशुभ का नाश नहीं बल्कि उसकी वृद्धि होगी।

यहूदी धर्म में यह तो कहा गया है कि अपने पड़ोसी से प्रेम करो, परन्तु यहूदी धर्म में यह नहीं कहा गया कि “अपने शत्रु से प्रेम करो”, ‘जो तुम्हें शाप दें उसे आशीश दो’ और ‘जो तुमसे घृणा करें उसकी भलाई करो’, क्राइस्ट ने व्यवहार के लिए सबसे कठिन नियम का प्रतिपादन किया है। संभवतः क्राइस्ट ने पहली बार इसक कठोर नियम को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है। सभी धर्मों में इतना तो कहा गया है कि शत्रु को क्षमा कर देना चाहिए। शत्रु को क्षमा कर देना एक ता है और शत्रु से प्रेम करना दूसरी बात है। जो अपने शत्रु से भी प्रेम कर सकता है वहीं ईश्वर के अत्यन्त निकट भी हो सकता है और वही ईश्वर का पुत्र होने का दावा कर सकता है, क्योंकि जो दैवी प्रकृति का होगा वही विश्व के सभी प्राणियों से चाहे वह शत्रु हो, चाहे मित्र, से प्रेम कर सकता है। इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि क्राइस्ट के इन उपदेशों में जो नैतिकता अभिव्यक्त की गई है, वह सामाजिक और नैतिक जीवन की दृष्टि से सर्वोच्च है। ऐसा चिन्तन और ऐसी धारणा मानव-इतिहास में क्राइस्ट ने प्रकट करके विश्व को चमत्कृत कर दिया है। क्राइस्ट ने अपने विचारों को स्वतन्त्र और नये रूपों में प्रस्तुत किया है। यहाँ उनका यह कथन चरितार्थ होता है कि ‘नयी शराब पुराने बोतल में नहीं रखी जायेगी।’ इससे यह भी सिद्ध होती है जब हम उनके विचार राजनीतिक, धार्मिक पार्टियों तथा मसीहा और ‘ईश्वर के राज्य’ के सम्बन्ध में देखते हैं। सच पूछा जाये तो क्राइस्ट के इस नवीन धर्म का उद्भव उस समय से ही देखा जाता है जब शैतान द्वारा उनकी परीक्षा होती है। शैतान को उनके दिये गये उत्तरों से धर्म की नवीनता प्रकट होती है।

क्राइस्ट की आध्यात्मिकता- क्राइस्ट की ‘बपतिस्मा’ के पश्चात् उनका परीक्षाकाल आता है। उस समय के उनके अनुभव यह प्रकट करते हैं कि यह समय उनके जीवन में आध्यात्मिक उथल-पुथल का समय था। चालीस दिन और चालीस रात तपस्या करने और

विश्व के प्रमुख धर्म

भूखों पड़े रहने के पश्चात् उनका आध्यात्मिक जागरण हुआ। जंगल में एक ढंग से शैतान ने उनकी तीन बार परीक्षा ली।^१

प्रथम परीक्षा इस प्रकार प्रारम्भ होती है 'यदि तुम ईश्वर के पुत्र हो तो कह दे कि ये पत्थर रोटियाँ बन जाये।' इसके उत्तर में क्राइस्ट कहते हैं 'मनुष्य केवल रोटी से नहीं बल्कि हर एक वचनसे जो ईश्वर के मुख से निकलता है, जीवित रहेगा। क्राइस्ट का यह उत्तर अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह मसीहा होने की परीक्षा है क्योंकि मसीहा आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है। परन्तु क्राइस्ट को इसकी चिन्ता नहीं है। उनका मन्तव्य यह है कि मनुष्य को रोटी से परे की आवश्यकताओं के विषय में चिन्ता करनी चाहिये। भौतिक आवश्यकताओं की भाँति मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताएँ भी हैं। उसे पूरा करना भी मनुष्य का कर्तव्य है। यहाँ क्राइस्ट ने प्राचीन परम्परा का अतिक्रमण किया है। प्राचीन परम्परा में मसीहा का सबसे प्रमुख कार्य देश की आर्थिक सम्पन्नता में वृद्धि करना था। परन्तु क्राइस्ट केवल उसी को महत्व न देकर आध्यात्मिक सम्पन्नता को भी महत्व देते हैं। भौतिक जीवनयापन के लिए रोटी की आवश्यकता से आध्यात्मिक जीवन की रोटी विशेष आवश्यक प्रतीत होती है। यह उनके धर्म की नवीनता है।

दूसरी परीक्षा में पूछा जाता है कि 'यदि तुम ईश्वर के पुत्र हो तो अपने आप को नीचे गिरा दे, क्योंकि लिखा है कि वह तेरे विषय में अपने स्वर्ग दूतों को आज्ञा देगा, और तुम्हें हाथों उठा लेंगे.....।' इसका उत्तर क्राइस्ट ने देते हैं 'तू ईश्वर की परीक्षा न कर। इन परीक्षा में प्राचीन धार्मिक चिन्तन से नवीन धार्मिक चिन्तन के मार्ग पर बढ़ते हैं। प्राचीन धर्म में ईश्वर जहाँ सौदेबाजी की वस्तु है, जहाँ वह भयजनक है और ऐहिक जीवन में काम आने वाला या पक्षपात करने वाला है वहाँ क्राइस्ट की दृष्टि से में वह एक सत्ता है, जो प्रेम करने योग्य है। क्राइस्ट ने जैसे जीवन को स्वीकार है वैसे ही ईश्वर का पुत्र भी अपने को समझा है। पिता अपने पुत्र को प्रेम देता है यह विश्वास है। भय और पक्षपात की दृष्टि से ईश्वर को स्वीकार नहीं किया है। यह आन्तरिकता आध्यात्मिकता का पथ प्रशस्त करती है। इस प्रकार का गहरी जड़ में गया हुआ नैतिक धर्म क्राइस्ट की ही दृष्टि में आया है। धर्म का जो भी पुरस्कार हो उसकी तुलना उन बाह्य परिस्थितियों से तो की नहीं जा सकती जो कि व्यक्ति पर आ पड़ता है। धर्म का ऐसा आध्यात्मिक और नैतिक रूप प्राचीन धर्म में प्राप्त नहीं होता है। क्राइस्ट के धर्म में यह एक नया परिवर्तन है।

१. मती-४/११-११, मरकुस १/१२-१३, ल्यूक- ४/१-१३।

ईसाई धर्म

तीसरी परीक्षा में शैतान उसे एक बहुत उँचे पहाड़ पर ले गया और सारे जगत के राज्य और उसका वैभव दिखाकर उससे कहा कि यदि तू गिरकर मुझे प्रणाम करे तो मैं यह सब कुछ तूझे दे दूँगा। इसके उत्तर में क्राइस्ट कहते हैं- 'हे शैतान दूर हो जा, क्योंकि लिखा है कि तू ईश्वर को प्रणाम कर और केवल उसी की उपासना कर।'

क्राइस्ट ने उपर्युक्त दोनों प्रलोभनों की भाँति शैतान के इस तीसरे प्रलोभन को भी अस्वीकृत कर दिया। उनको संसार का वैभव नहीं चाहिए। राष्ट्रीय वैभव यहूदी धर्म की सबसे बड़ी विशेषता है। अब तक पैगम्बरों के उपदेश इसी के सम्बन्ध में पाये गये। यह क्राइस्ट की आध्यात्मिक पिपासा ही है जिसमें एकमात्र लक्ष्य ईश्वर ही है। क्राइस्ट ने यह सिद्ध कर दिया कि मसीहा का यह वास्तविक रूप नहीं है जो कि केवल राष्ट्रीय शक्ति की प्राप्ति के लिए ही ईश्वर की उपासना करे। ऐसा मसीहा गलत है। मसीहा मानव जाति के उद्धान के लिए है। केवल राष्ट्रीय नेता के रूप में नहीं माना जाना चाहिए।

क्राइस्ट की इस परीक्षा के द्वारा कई बातों पर प्रकाश पड़ता है। मुख्य रूप से इससे क्राइस्ट की तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक परिस्थितियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है। यद्यपि क्राइस्ट यहूदी ही थे परन्तु यहूदी धर्म से उनकी आध्यात्मिकता की सन्तुष्टि नहीं हो सकी। प्रलोभनों के उत्तरों में निस्सन्देह उन्होंने प्राचीन मत के 'व्यवस्था विवरण' से ही उद्धारणों को प्रस्तुत किया है परन्तु उसमें निहित आध्यात्मिकता को उन्होंने केवल पुनः व्यवस्थित ही नहीं किया बल्कि उनमें अपनी नवीन अन्तर्दृष्टि भी विकसित की है। उनकी यह नवीनता इतनी स्पष्ट थी कि कुछ ही समय में रूढ़िवादिता की दीवार को तोड़ ही दी। शैतान द्वारा दिये गये प्रलोभनों के उत्तर में इतना तो स्पष्ट पता चलता है कि क्राइस्ट ने एक नवीन धर्म की उत्पत्ति कर दी थी। इसलिए उनकी प्रतिक्रियाएँ विभिन्न रूपों में परिलक्षित होने लगीं। उदाहरण के लिए क्राइस्ट ने अपने समय के किसी भी राजनीतिक धार्मिक पार्टियों और समितियों से अपने को जोड़ नहीं रखा था। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा कुछ सामान्य बातें अवश्य थीं जो क्राइस्ट में तथा यहूदी परम्पराओं में मिलती हैं, परन्तु फिर भी कुछ नवीनताएँ उत्पन्न होने लगीं थीं। क्राइस्ट को यह पूर्ण रूप से विदित था कि उनकी अनुभूतियों से प्राचीन मत की चिन्तन-धारा में कुछ परिवर्तन अवश्य होगा। इसीलिए उन्होंने किसी पार्टी से अपना सम्बन्ध नहीं रखा। वे सभी पार्टियों के ऊपर थे। उन्होंने देश के धर्म को नई दिशा तथा नया आकार देना चाहा था; जो कि उनको अब बिल्कुल स्पष्ट था। क्राइस्ट को इस बात की पूर्ण चेतना थी कि अब उनको मानव के लिए ऐसा जीवनोपदेश देना है जो लोगों को सभी पार्टियों से ऊपर पहुँचायेगा, कष्ट, संघर्ष और घृणा से परे ले

विश्व के प्रमुख धर्म

जायेगा तथा ईश्वरीय राज्य मरणोपरान्त ही नहीं बल्कि यहीं इसी लोक और इसी जीवन में मिलेगा।

मसीहा और स्वर्ग का राज्य

क्राइस्ट ने मसीहा और स्वर्ग के राज्य की धारणा की नयी व्याख्या की। मसीहा केवल ईश्वर के एजेन्ट के रूप में ही नहीं रह गया बल्कि वह मानव का उद्धारकर्ता के रूप में माना गया। क्राइस्ट स्वयं मसीहा के रूप में हैं। वह लोगों में ईश्वरीय भय उत्पन्न करने नहीं आये हैं बल्कि प्रेम, सेवा, त्याग और बलिदान सिखाने के लिए अवतरित हुए हैं। आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने के पश्चात् क्राइस्ट शास्त्रियों और पण्डितों की तरह नहीं बल्कि मसीहा की तरह आधिकारिक रूप से उपदेश देते हैं। जिन उपदेशों को लोग आश्चर्य रूप से भारी संख्या में एकत्रित होकर सुनते हैं, पीछे-पीछे चलते हैं और लोगों को अनुभव भी होता है कि यह मसीहा कोई नई बात कह रहा है।^१ लूका में भी मसीहा की नई धारणा मिलती है जो यहूदी परम्परा से भिन्न और नई सिद्ध होती है। नाजरथ में जहाँ क्राइस्ट का पालन-पोषण किया गया था सब्त के दिन (विश्राम के दिन) आराधनालय में क्राइस्ट का यह कथन पुरानी परम्परा से अलग और नवीन सिद्ध होता है। 'प्रभु की आत्मा मुझ पर है, इसलिए कि उसने कंगालों को सुसमाचार सुनाने के लिए मेरा अभिषेक किया है, और मुझे इसलिए भेजा है कि बन्धुओं को छुटकारे का और अन्धों को दृष्टि पाने का सुसमाचार प्रचार करूँ और कुचले को छुड़ाऊँ।'^२

प्राक्कालीन शास्त्री, पण्डित और पुजारी इस मसीहा की बात सुनते थे, उनका आदर भी करते थे, परन्तु जब देखा कि क्राइस्ट ने उनके नियम का पालन नहीं किया अछूतों का उद्धार किया, भठिहारों के साथ भोजन किया, तो उनके सम्बन्ध ठण्डा पड़ने लगे। कटुता बढ़ने लगी, फिर तो क्राइस्ट उनके शत्रु हो गये। उनमें से कुछ हिरोदियन समुदाय में सम्मिलित हो गये। फिर भी क्राइस्ट ने राजनीतिक और धार्मिक समुदायों से अपने को परे ही रखा। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तब मिलता है जब उनके सामने शास्त्रियों, पण्डितों और हिरोदिन को यह प्रश्न करने के लिए भेजा गया कि 'हे गुरु हम जानते हैं कि तुम सच्चे हो और किसी की परवाह नहीं करते, परन्तु परमेश्वर का मार्ग सच्चाई से बताते हो, तो क्या कैसर को कर देना उचित है कि नहीं? एक दीनार मेरे पास लाओं मैं देखूँ? उसने उनका कपट जान कर कहा मुझे क्यो परखते हो? एक दीनार मेरे पास लाओं मैं देखूँ?'

१. मरकुस- १/२१-२२, २७, २८, २/१-२।

ईसाई धर्म

वे ले आये और उसने उनसे कहा यह मूर्ति और नाम किसका है। उन्होंने कहा कैसर का। क्राइस्ट ने उनसे कहा जो कैसर का है वह कैसर को और जो परमेश्वर का है वह परमेश्वर को दो तब वे उस पर बहुत अचम्भा करने लगे।

क्राइस्ट के ऐसे उत्तर खे लोगों को आश्चर्य हुआ और उन्हें मसीहा मानने के लिए लोग बाध्य हुए। परन्तु क्राइस्ट ने अपने मुँह से एक बार भी नहीं कहा कि मैं मसीहा हूँ परन्तु शिष्यों के बीच बातचीत में संकेत मिलता है कि क्राइस्ट मसीहा है। फिर भी इसका प्रचार करने के लिये उन्होंने मना कर दिया। बाद में इनके कार्यों से अपने आप सिद्ध हो गया और प्रचार भी हो गया कि क्राइस्ट मसीहा है ईस-पुत्र है।

मसीहा तथा ईश्वरीय राज्य की धारणा प्राचीन मत से नितान्त भिन्न प्रतीत होती है। मसीहा भौतिक राज्य का मालिक नहीं बल्कि दास है। और वह राज्य करने नहीं आया है बल्कि बलिदान और त्याग करने आया है। क्राइस्ट मसीहा है ऐसा उनको विश्वास नहीं था, अद्यपि उनको कष्ट सहन करना है। साथ ही वह विश्वास करते हैं कि मैं मसीहा हूँ क्योंकि मुझे कष्ट उठाना है। यह सबसे अधिक विरोधाभास है, और यही नवीन समाचार की मौलिकता है। यहूदी धर्म में मसीहा राज्य का बड़ा अधिकारी और यही नवीन समाचार की मौलिकता है। यहूदी धर्म में मसीहा राज्य का बड़ा अधिकारी और शासक के रूप में समझा जाता था। परन्तु क्राइस्ट के मत में मसीहा की धारणा इस प्रकार है जो कोई तुमसे बड़ा होना चाहे वह तुम्हारा सेवक बने और जो कोई तुममें प्रधान होना चाहे वह सबका दास बने। क्योंकि मनुष्य का पुत्र इसलिए नहीं आया कि उसकी सेवा-टहल की जाय पर इसलिए आया कि आप सेवा टहल करें और बहुतों को छुड़ाने के लिये अपने प्राण दें।

इसी प्रकार ईश्वरीय राज्य के विषय में भी क्राइस्ट की आध्यात्मिक व्याख्या अतुलनीय है। क्राइस्ट अपने शिष्यों की चिन्तन धारा को सर्वोच्च स्तर तक उठा देना चाहते हैं। उन्होंने उन्हें यह उपदेश देने का प्रयत्न किया कि ईश्वरीय राज्य ईश्वरीय संकल्प का राज्य है- जिसे विश्व की सभी वस्तुओं में सबसे पहले ढूँढना चाहिये। इस राज्य सम्बन्धी विचार के दो पहलू हैं एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। ईश्वरीय राज्य का बाह्य तथा सामाजिक महत्व है और आन्तरिक रूप से ईश्वरीय राज्य में प्रवेश के लिये आवश्यक है कि अपने संकल्प को ईश्वरीय संकल्प के साथ मिल देना चाहिए।

ईश्वरीय राज्य से सम्बन्धित एक दूसरा प्रश्न भी है जिसके विषय में क्राइस्ट की नवीनता प्रकट होती है। प्राचीन परम्परा में ईश्वर का राज्य आने वाला है, ऐसी मान्यता मिलती है। अर्थात् इस धारणा में भविष्य का बोध होता है, परन्तु क्राइस्ट के अनुसार

विश्व के प्रमुख धर्म

ईश्वरीय राज्य नहीं पर है और मनुष्य के भीतर है। कुछ लोगों का मत है कि क्राइस्ट में वर्तमान और भविष्य दोनों का बोध होता है। इस सम्बन्ध में उनकी कहावतें प्रचलित हैं—स्वर्ग का राज्य राई को एक दाने के समान है, जिसे किसी मनुष्य ने लेकर अपने खेत में बो दिया। वह सब बीजों से छोटा तो है पर जब बढ़ जाता है तब सब साग-पात से बढ़ा होता है और ऐसा पेड़ हो जाता है कि आकाश के पंछी आकर उसकी डालियों पर बसेरा करते हैं। पुनः दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि स्वर्ग का राज्य खमीर के समान है जिसको किसी स्त्री ने लेकर तीन पसेरी आटे में मिला दिया और होते-होते वह सब खमीर हो गया। फिर स्वर्ग का राज्य एक व्यापारी के समान है जो अच्छे मोतियों की खोज में था। जब उसे एक बहुमूल्य मोती मिला तो उसने जाकर अपना सब कुछ बेंच डाला और उसे मोल ले लिया। फिर स्वर्ग का राज्य उस बड़े जाल के समान है जो समुद्र में डाला गया और हर प्रकार की मछलियों को समेट लाया। जब भर गया तो उसको किनारे पर खींच लाये और बैठकर अच्छी-अच्छी तो बर्तनों में एकत्रित किया और निकम्मी निकम्मी फेंक दी।

उपरोक्त दृष्टान्तों में प्रथम की व्याख्या बहुधा इस प्रकार की जाती रही है कि ईश्वरीय राज्य संसार में आयेगा। राई के बीज का संकेत है, प्रारम्भ बहुत छोटे रूप में हुआ परन्तु उसका विस्तार बढ़े आयाम में होगा। इसी प्रकार दूसरा दृष्टान्त खमीर जो आटे में थोड़ा सा मिलाया जाता है और अधिक मात्रा में आटे को खमीर बना देगा। अर्थात् पवित्र लोगों का छोटा समुदाय पूरे समुदाय को पवित्र कर देगा। यद्यपि इन उदाहरणों से भविष्य की ओर संकेत मिलता है कि स्वर्ग का राज्य या ईश्वरीय राज्य आयेगा, परन्तु यह बिल्कुल संभव है कि क्राइस्ट भविष्य की अपेक्षा वर्तमान की ही बात करते थे। वास्तविक तो यह लगती है कि स्वर्ग का राज्य व्यक्ति के भीतर है और कहीं से आना नहीं है, यहीं है, उसकी प्रतीक्षा करनी है। राई का बीज स्वर्ग का राज्य है जो मानव के अन्दर ही बोया गया है, परन्तु उसकी वृद्धि अधिक से अधिक होगी। इस प्रकार वर्तमान और भविष्य दोनों को मिलाया गया है। इसी प्रकार खमीर अभी आटे में मिलाया गया और जो अपना काम कर रहा है बाद में अभी आटे को खमीर बना देगा। अन्य दो दृष्टान्तों में स्पष्ट संकेत मिलता है कि ईश्वरीय राज्य मानव में अन्तर्निहित है, देर है उसे खोज और पा लेने की या उसे पहचान लेने की। व्यापारी अच्छी मोतियों की खोज में था, जब उसे मिल गया तो उसने अपने सभी जागतिक प्रलोभनों का त्याग करके स्वर्ग के राज्य को ही ले लिया। या स्वर्ग का राज्य जाल के समान है। मनुष्य प्रयास करके अपने हृदय में ज्यों ही खोज करता है स्वर्ग का वैभव अर्थात् ईश्वरीय गुणों को प्राप्त करके अपने हृदय में ज्यों ही खोज करता है स्वर्ग का वैभव अर्थात्

ईसाई धर्म

ईश्वर गुणों को प्राप्त कर लेता है। शेष निम्न वासनाओं का त्याग कर देता है। क्राइस्ट को स्वर्ग को स्वर्ग का राज्य इसी पृथ्वी पर दीन-हीन मानव के बीच ही मिला। उन्होंने सेवा, त्याग और बलिदान से मानव जाति में स्वर्ग का राज्य फैला दिया। मानव का आर्तक्रन्दन समाप्त कर देना, आन्तरिक प्रसन्नता और समाज की खुशी का विस्तार करना यही ईश्वरीय राज्य का वैभव है, जिसे क्राइस्ट ने अपने जीवन में अपना प्राण निछावर करके लुटाया। मानव जाति को यह सन्देश दिया कि संकीर्णता नहीं, हृदय की विशालता, स्वार्थ लोलुपता नहीं, त्याग और सेवा, भौतिक समृद्धि नहीं, आन्तरिक और आध्यात्मिक समृद्धि शासन और अधिकार नहीं, सेवा और रक्षा ईश्वरीय राज्य की महिमा है। यह यहीं है। हमारी भीतर है। इसे पाना है।

ईश्वरीय राज्य की धारणा एक ऐसा धार्मिक सिक्का है। जिसको क्राइस्ट ने नवीन मूल्य प्रदान किया। यह क्राइस्ट की आध्यात्मिक प्रतिभा की मौलिकता है। कुछ लोग क्राइस्ट को प्रतिक्रियावादी कहते हैं और सिद्ध करते हैं कि ईसाई धर्म प्रतिक्रिया का ही फल है परन्तु यह दृष्टिकोण बहुत उचित नहीं प्रतीत होता है। क्राइस्ट की आध्यात्मिकता इस कोटि की थी कि उनको प्राचीन परम्परा को नवीन रूप देना पड़ा। युग के अनुकूल धर्म की आध्यात्मिक व्याख्या क्राइस्ट का मुख्य लक्ष्य था। उनकी यह धार्मिक नवीनता बहुमुखी थी। क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं थी। प्रक्रियावादी तोड़-फोड़ करता है। क्राइस्ट ने तोड़-फोड़ नहीं की, बल्कि पुरानी परम्परा को गढ़ने का, नवीन कलेवर देने का काम किया है।

इस मन्तव्य का उदाहरण उनकी धर्म की आन्तरिकता मनोवृत्ति में मिलता है। जहाँ यहूदी धर्म में धार्मिक आचरण और व्यवहार को बाह्यगत महत्त्व दिया गया वहीं क्राइस्ट ने उसकी आन्तरिकता पर बल दिया। धर्म में आध्यात्मिकता की प्रगाढ़ता के आधार पर उन्होंने जोर देकर उसकी जड़ गहराई में जमा दी। यह उनकी प्राचीनता में नवीनता है। उनकी इस नवीनता को देखकर उस समय के लोगों को ऐसा लगा कि यह व्यक्ति धर्म का तोड़-फोड़ कर रहा है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। क्राइस्ट को इसे बार-बार समझाना पड़ा कि मैं धर्म को तोड़ने या विनष्ट करने नहीं आया हूँ बल्कि गढ़ने और बढ़ाने आया हूँ। फिर भी क्राइस्ट को कथन विरोधों में पूर्ण है। एक ओर प्राचीन परम्परा के प्रति उनकी प्रगाढ़ आस्था और दूसरी ओर उस परम्परा से दूर, बहुत दूर हट कर और उससे बढ़कर नियमों और परम्पराओं का उपेक्ष करके हैं। बातें वहीं हैं परन्तु उनकी गहरायी और विस्तार में अन्तर है। विरोध वहाँ स्पष्ट है वहाँ यह कहते हैं कि एक-एक छोटे नियमों का पालन आवश्यक है और दूसरी ओर उन प्राचीन नियमों से आगे बढ़कर नियम का आदेश करते

विश्व के प्रमुख धर्म

हैं। यह एक रहस्यमयता है। उनका कथन है- 'यह न समझो कि मैं व्यवस्था या पैगम्बरों की पुस्तकों को लोप करने आया हूँ। लोप करने नहीं परन्तु पूरा करने आया हूँ, क्योंकि मैं तुमसे सच कहता हूँ कि जब तक आकाश और पृथ्वी टल न जाय तब तक व्यवस्था से एक मात्रा या एक बिन्दु भी बिना पूरा हुए नहीं टलेगा। इसलिये जो कोई इन छोटी-सी-छोटी आज्ञाओं में से किसी एक को तोड़े और वैसा ही लोगों को सिखाये वह स्वर्ग के राज्य में सबसे छोटा कहलायेगा। क्योंकि मैं तुमसे कहता हूँ कि यदि तुम्हारी धार्मिकता शास्त्रियों और फरीसियों की धार्मिकता से बढ़कर न हो, तो तुम स्वर्ग के राज्य में कभी प्रवेश न करने पाओगे।'^१

'तुम सुन चुके हो कि पूर्वकाल के लोगों से कहा गया था कि हत्या न करना और जो कोई हत्या करेगा वह कचेहरी में दण्ड के योग्य होगा। परन्तु मैं तुमसे यह कहता हूँ कि जो कोई अपने भाई पर क्रोध करेगा वह कचेहरी में दण्ड के योग्य होगा।'^२

तुम सुन चुके हो कि कहा गया है कि व्याभिचार न करना परन्तु मैं तुमसे यह कहता हूँ कि जो कोई स्त्री पर कुदृष्टि डाले वह अपने मन में उससे व्याभिचार कर चुका।'^३

इसी प्रकार आगे भी चार बार इसी कथन को दुहराया गया है कि 'तुम सुन चुके थे- परन्तु मैं कहता हूँ...।' यह विरोधी कथन ध्यान देने योग्य है। क्राइस्ट प्राचीन धर्मशास्त्र के प्रति गहरी श्रद्धा रखते हैं और नियमों के उपदेशों के प्रति अतीव आदर रखते हैं, तिस पर भी शास्त्र तथा नियमों के उपयोग में अपने विवेक और स्वेच्छज्ञ का प्रयोग करते हैं। जो नियम और पद्धतियाँ बतलायी गयी थीं उनकी वे पूर्ण रूप नहीं समझते थे। इसका स्पष्ट कारण यही लगता है कि उनको दैवी प्रकाशन का प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान था। उनके अन्दर वह प्रतिभा थी कि वह स्पष्ट रूप से देख सकते थे कि ईश्वर की धारणा मात्र आदर्श नहीं बल्कि वास्तविकता है और ईश्वर का राज्य नियम के रूप में मानव के हृदय में भी है। ईश्वर को जानना और उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए नियम की पुस्तक को देखना नहीं पड़ेगा, बल्कि इनकी जीवित अनुभूति मानवात्मा और ईश्वर के बीच सहज रूप से होती रहती है।

क्राइस्ट ने धर्म के नियमों की व्याख्या और उसके क्रियान्वयन के लिए स्वतंत्रता है। यही उनके धर्म की नवीनता है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण सब्त के दिन (विश्राम के

१. मत्ती- ५/१७-२०।

२. मत्ती- ५/२१-२२।

३. मत्ती- ५/२७-२८।

ईसाई धर्म

दिन) का है। शास्त्र में लिखा है कि इस दिन कोई कार्य नहीं करना चाहिए। यदि इसके विपरीत कोई कार्य करे तो उसको दण्ड मिलता चाहिये। (गिनती १५/३२) परन्तु क्राइस्ट के जीवन में इस दिन की क्रिया-विधि इसके विपरीत मिलती है और उन्होंने इसकी व्याख्या अपनी अन्तरदृष्टि द्वारा आन्तरिक नैतिकता के आधार पर की, न कि शास्त्र में लिखी हुयी बातों का अक्षरशः पालन किया। मानवात्मा में अन्तर्निहित नैतिकता के आधार पर उनको कहने का साहस हुआ कि नियम मानव के लिये हैं न कि मनुष्य नियमों के लिए। उनका कथन है कि सब्त का दिन मनुष्य के लिए बनाया गया है; न कि मनुष्य सब्त के दिन के दिन के लिये। इसलिये मनुष्य का पुत्र सब्त के दिन का स्वामी है।^१

शुभ-अशुभ

क्राइस्ट की पारदर्शी दृष्टि ने प्राचीन मत की कमियों को बड़ी सूक्ष्मता और गहरायी से देखा था। शास्त्र में जो व्यवस्थाएँ और नियमावलियाँ दी गयी हैं उनको करने की प्रेरणा जितनी अधिक बाह्य दवाओं में मिलती थी, उतनी आध्यात्मिक प्रेरणा से नहीं। क्राइस्ट की दृष्टि से ईश्वरीय संकल्प में मानव संकल्प निहित है और उसी संकल्प या इच्छा का पालन मानव का कर्तव्य है। अशुभ और बुराइयाँ प्राचीन मत के अनुसार बाह्य रूप में देखी गयीं और उनसे बचने के लिये बाह्य क्रिया-विधानों पर अधिक बल दिया गया। क्राइस्ट ने ही बताया कि ईश्वरीय संकल्प शुभ है। अशुभ मानव की अपनी सृष्टि है। वासनाएँ जिन पर मनुष्य नियंत्रण नहीं कर पाता वही पाप और बुराईयों की जड़ हैं। शुचिता के लिये मनुष्य को भीतर नियंत्रण नहीं कर पाता वहीं पाप और बुराईयों की जड़ हैं। शुचिता के लिये मनुष्य को भीतर झाँकना चाहिये। बाह्य आडम्बर उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना भीतर की स्वच्छता। क्राइस्ट का कथन है कि तुम सब मेरी सुनो और समझो। ऐसी तो कोई वस्तु नहीं जो मनुष्य के बाहर से समाकर अशुद्ध करे, परन्तु जो वस्तुएँ मनुष्य के भीतर से निकलती हैं वे ही उसे अशुद्ध करती हैं। फिर कहा जो मनुष्य के मन से बुरी-बुरी चिंता, व्याभिचार, चोरी, हत्या, पर-स्त्रीगमन, लोभ दुष्टता, छल, लुच्चापन, कुदृष्टि, निन्दा, अभिमान और मूर्खता निकलती है, ये सब बुरी बातें भीतर ही से निकलती हैं और मनुष्य को अशुद्ध करती हैं।

फरीसी और शास्त्रियों ने जब क्राइस्ट के शिष्यों को बिना हाथ धोये रोटी खाते देखा, जबकि प्राचीन रीति अनुसार हाथ धोना, बाजार से आकर स्नान करना, बरतनों को

१. मरकुस- २/२३-२८।

विश्व के प्रमुख धर्म

धोना-माँजना अनिवार्य था, तब उन लोगों ने क्राइस्ट से कहा 'तुम्हारे चेले क्यों बिना हाथ धोये रोटी खाते हैं? अशुद्ध और अछूत के साथ क्यों भोजन करते हैं? क्राइस्ट इसक उत्तर स्वतः स्फूर्त नैतिकता के आधार पर देते हैं जो शास्त्र में नहीं मिलता। उनका कथन है- 'हे कपटी शास्त्रियों और फारीसियों तुम पर हाथ, तुम कटोरे और थाली को ऊपर-ऊपर से तो माँजते हो, परन्तु वे भीतर अन्धेर, असंयम से भरे हुए हैं। हे अंधे फरीसी पहले कटोरे और थाली को भीतर माँज कि वे बाहर से भी स्वच्छ हों।'

'तुम पोदीने, सौँफ और जीरे का दशांश तो देते हो परन्तु तुमने व्यवस्था की गम्भीर बातों को अर्थात् न्याय, दया और विश्वास को छोड़ दिया है। तुम मच्छर को तो छान डालते हो परन्तु ऊँट को निगल जाते हों।'

'तुम चूना फिरी हुयी कब्रों के समान हो, जो ऊपर तो सुन्दर दिखायी देती हैं, परन्तु भीतर मुर्दों की हड्डियों और सब प्रकार की मलिनता से भरी हैं। इस तरह से तुम भी ऊपर से मनुष्यों को धर्मी दिखाई देते हो, परन्तु भीतर कपट और अधर्म से भरे हुए हो।'^१

क्राइस्ट के उपर्युक्त कथन से यही सिद्ध होता है कि नैतिक व्यवहार ईश्वर और मानव के प्रति आन्तरिक प्रेम अथवा भक्ति के फलस्वरूप स्वतः होना चाहिए। जब ऐसा प्रेरणा-मूलक तत्व हमारे भीतर है तब हमें शास्त्र में दी गयी नियमावली को नहीं देखना होगा। हमारा व्यवहार ईश्वर मूलक या मानवता मूलक स्वतः ही होगा। इसलिए क्राइस्ट धर्म और धर्म-व्यवहार के मूलतत्व को केवल दो आदेशों में व्यक्त करते हैं। उनसे पूछे जाने पर कि सबसे बड़ा आदेश कौन है? उनका उत्तर है- "ईश्वर को अपनी सम्पूर्ण आत्मा, मन और हृदय से प्रेम करना चाहिए और दूसरा बड़ा आदेश यह है कि 'अपने पड़ोसी से अपने समान ही प्रेम करना चाहिए। इस प्रकार जब हम ईश्वर को प्यार करेंगे तो ईश्वर की सन्तान को भी हमें प्यार करना होगा। सम्पूर्ण नैतिकता और धर्म ईश्वर तथा मानव-केन्द्रित है, जब कि प्राचीन धर्म, शास्त्र-केन्द्रित है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि दो प्रमुख आदेश जिनका उपदेश प्राचीन धर्म में दिया गया है, क्राइस्ट ने उसी को तो कहा है, उसमें क्या नवीनता है? परन्तु इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि क्राइस्ट की नवीनता और मौलिकता इसमें है कि प्राचीन नियम के मूलतत्व को क्राइस्ट ने पहचाना, समझा और उसी को सारांश के रूप में अपने उत्तर में अभिव्यक्त किया। प्राचीन नियम के बाह्य आडम्बरों और धार्मिक क्रिया-कलापों की अपेक्षा उसके मूल तत्व को ग्रहण करना ही आवश्यक है और उसी से केन्द्रित व्यवहार, जिसको मनुष्य सहजता से स्वाभाविक रूप से प्रसन्नतापूर्वक

१. मत्ती २३/२५, २३-२४, २७-२८।

ईसाई धर्म

दैनिक जीवन में क्रियान्वित कर सकता है, वही सर्वोच्च आदर्श है। क्राइस्ट ने उन प्राचीन नियमों की जड़ में जाकर आडम्बरों से लोगों को मुक्ति दिलायी और उदारवादी तथा स्वतन्त्र दृष्टिकोण प्रदान किया। यह उनकी प्राचीनता में नवीनता है।

मानव

क्राइस्ट ने नवीनता मानव मूल्यांकन में है। बन्धुत्व और मानवतावाद उनकी सबसे बड़ी देन है। क्राइस्ट के समय में भी अब भी जैसा कि हम देख रहे हैं कि मनुष्य केवल कार्य का साधन है और शोषण किये जाने के लिए है। क्राइस्ट ने मानव को मूल्यांकित किया। इस मूल्यांकन में मनुष्य साध्य मूल्य है न कि साधन। इसका आधार प्रेम है। जिसको हम प्रेम करते हैं हम उसे मूल्य प्रदान करते हैं और जिससे अधिक प्रेम करते हैं उसको अधिक मूल्य भी प्रदान करते हैं। मनुष्य ईश्वर की सन्तान है। यदि हम ईश्वर को प्यार करते हैं तो उसकी सन्तान मानव से भी प्यार करते हैं। यहाँ दृष्टव्य है कि वह मूल्य जिससे मानव को प्यार किया जाता है साध्य मूल्य है न कि साधन मूल्य। मानव मूल्यांकन के बहुत से तरीके। हम मनुष्य का मूल्यांकन शक्ति की दृष्टि से, वैभव और सम्पन्नता की दृष्टि से या पद की दृष्टि से करते हैं। ये सभी मूल्यांकन साधन मूल्य की दृष्टि से किये जाते हैं। निश्चित है कि ऐसा मूल्यांकन बुरा नहीं है। सामाजिक दृष्टि से यह भी आवश्यक है। परन्तु क्राइस्ट मानव को साधन नहीं साध्य मूल्य मानते हैं। उदाहरण के लिए माता-पिता की दृष्टि से बालक साध्य मूल्य है। वह बालक चाहे प्रतिभावान हो, चाहे मन्द, दुबला हो या मोटा परन्तु माता-पिता उसको प्यार करते हैं। माता-पिता बालक को प्यार करने के लिए प्यार करते हैं। यह साध्य मूल्य है। क्राइस्ट ने यह बताया कि मनुष्य ईश्वर की सन्तान के रूप में साध्य मूल्य रखता है। प्राचीन मत में मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से नहीं देखा गया। क्राइस्ट ने यह पहचाना कि मनुष्य की मानवतावादी प्रेम से देखना ही उसको साधन मूल्य के स्थान पर साध्य मूल्य मानना है। क्राइस्ट के धर्म की सबसे बड़ी देन यही है कि उनसे सामाजिक सम्बन्धों में दृढ़ता उत्पन्न होती है। सामाजिक सम्बन्ध केवलसाधन मूल्य पर ही आधारित नहीं माने जा सकते। संस्कृति और सभ्यता की स्थिरता और विकास में निश्चित ही इस साध्य मूल्य का ही हाथ है। समाज में देखा जाता है कि जहाँ प्रेम है वहीं आशा और विश्वास भी है। क्राइस्ट की मानव की धारणा में कहीं निराशावादिता एवं असारता नहीं है। क्राइस्ट ने कहा भी मानव-प्रकृति में विकृति का दृष्टिकोण नहीं व्यक्त किया है और न कहीं मानवता का हरण किया है। मानवता को साध्य मूल्य मानकर क्राइस्ट ने कहीं मानवता की अवमानना नहीं की है। रही बात पाप की, उनके धर्म में पाप को जहाँ

विश्व के प्रमुख धर्म

स्थान मिला है वहीं यहूदी धर्म की तरह पापियों को मार डालने और उसका अपमान करने का प्रस्ताव कहीं नहीं है। उनके धर्म में खोया हुआ सिक्का ढूँढ़ा जाना चाहिए, उसको बाजार में चलाना चाहिए। खोयी हुयी भेड़ पुनः प्राप्त होनी चाहिए और प्रोदिगाल का पुत्र लौटाया जाना चाहिये।^१ क्राइस्ट को इसका ज्ञान था कि मनुष्य में दुर्गुण और बुराईयाँ हैं परन्तु उन दुर्गुणों के प्रेरकों को बदला जा सकता है, यह सम्भव है। शर्त यह है कि मनुष्य ईश्वर को पहचाने और समझे, ऐसा होने पर मनुष्य अवश्य ही ईश्वरीय इच्छा का पालन करेगा। इसीलिए उन्होंने कहा कि- 'एक मन फिराने वाले पापी के विषय में भी स्वर्ग में उतना ही आनन्द होगा जितना कि निन्नावे ऐसे धर्मियों के विषय में नहीं होता, जिन्हें मन फिराने की आवश्यकता नहीं।'^२ मानव और मानवता के सम्बन्ध में क्राइस्ट की ऐसी धारणा यहूदी धर्म से भिन्न और नवीन है।

ईसाई धर्म में पाप से मुक्ति और इसके मार्ग

ईसाई धर्म में यह मान्यता है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने अनुरूप बनाया। मनुष्य को स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति दी। उसको ऐसा विवेक दिया, जिसके आधार पर वह भले-बुरे का ज्ञान कर सकता है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह बुराई का त्याग करके भलाई का कार्य करें। मनुष्य भला तभी हो सकता है जब वह ईश्वर को समर्पित हो जाय। अपनी इच्छाओं को ईश्वर के अधीन कर दे। ईश्वर के आदेशों का पालन करें। परन्तु जब मनुष्य ने दुराचार से अपने को कलंकित कर लिया तो उसकी ईश्वर-छवि विकृत हो गयी। ईसाई धर्म के अनुसार मनुष्य को इस पाप से मुक्ति होना है। इस पाप वृत्ति से मुक्त होने पर ही मनुष्य ईश्वर की छवि को प्राप्त कर सकता है। यही पाप बन्धन का कारण है। संत पाल कहते हैं- 'यदि मैं वही करता हूँ, जिसकी इच्छा नहीं करता तो उसका करने वाला मैं न रहा परन्तु पाप जो मुझमें बसा हुआ है। "मैं कैसा अभागा मनुष्य हूँ। मुझे इस मृत्यु के देह से कौन छुड़ाएगा?' (७१-२०, २४)

संत पाल के कथन से यही सिद्ध होता है कि पाप के कारण ही बन्धन है। इससे छुटकारा ही मुक्ति (Salvation) है। इस मुक्ति के उपायों पर ईसाई धर्म में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। हिन्दू धर्म की तरह ईसाई धर्म में भी यह स्वीकार किया गया है कि आत्मिक जीवन जीना ही मुक्ति है। शरीर में जीना पाप में जीना है। संत पाल कहते हैं- 'शरीर पर मन लगाया तो मृत्यु है, परन्तु आत्मा पर मन लगाना जीवन और शान्ति है।' ईसा मसीह ही

१. ल्यूक- १५/१-३२

२. ल्यूक- १५/७

ईसाई धर्म

जीवन हैं। उनका निवास जिसमें है वही जीवित है अर्थात् मुक्त है। उसे शान्ति है। कितना ही पाप हो यदि ईसा की शरण में जाय तो वह शान्ति देंगे क्षमा करेंगे। इसीलिए कहा गया है कि यदि किसी में मसीहा का आत्मा नहीं तो वह उसका जन नहीं और यदि मसीह तुममें है तो देह पाप के कारण मरी हुयी है परन्तु आत्मा धर्म के कारण जीवित है।^१

संत पाल के उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि मुक्ति के विभिन्न उपाय और मार्ग हैं, जिन पर चलकर मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है-

(१). **विश्वास-** ईसाई धर्म में मुक्ति के लिए पहला मार्ग है कि मनुष्य ईसा मसीह में विश्वास करे। वही उद्धार कर्ता है। उनके उपदेशों में विश्वास करना मनुष्य का कर्तव्य है। स्वयं ईसा ने कहा भी है कि 'द्वार मैं हूँ। यदि कोई मेरे द्वारा भीतर प्रवेश करे तो उद्धार पाएगा।' 'जो मुझे देखता है, वह मेरे भेजने वाले को देखता है। मैं जगत में ज्योति बनकर आया हूँ ताकि जो कोई मुझ पर विश्वास करे वह अन्धकार में न रहे।'^२

(२). **ईश्वर, कृपा, क्षमा एवं हृदय की पवित्रता-** ईसाई धर्म में मुक्ति की प्राप्ति के लिए ईश्वर की कृपा आवश्यक है। ईश्वर के समक्ष बालकवत सरल बन कर जाने से क्षमा किया जाएगा। ईश्वर की कृपा उसी पर होगी जिसका विश्वास ईसा में, उनके उपदेशों में है। जिनका अनतःकरण शुद्ध है, जो नम्र हैं, जो आत्मिक जीवन जीना चाहते हैं, वे ही क्षमा के पात्र हैं। ईसा मसीह कहत हैं- 'यदि तुम न फिरों, और बालकों के समान न बनो तो स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करने नहीं पाओगे।' मनुष्य के सब प्रकार के पाप और निन्दा क्षमा की जायेगी पर आत्मा की निन्दा क्षमा न की जायेगी।'

इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि ईसाई धर्म में जहाँ मुक्ति के लिए ईश्वर की कृपा पर निर्भर रहना आवश्यक बतलाया गया है, वहाँ हिन्दू धर्म बौद्ध धर्म में मनुष्य का प्रयास अधिक आवश्यक है। परन्तु डॉ० राधाकृष्णन का कहना है कि ईसाई धर्म में भी मनुष्य के प्रयास और उसके कर्मों के आधार पर ही मुक्ति निर्भर है। उनके शब्दों में ईसा को भी मान्य है कि अध्यात्म जगत् के भी नियम है। तुच्छ, तृण, चोर, गुप्तधन, मोती, पथ-भ्रष्ट भेड़, मुद्रा, दश कुमारियों एवं वैवाहिक वस्त्रों की दृष्टान्त-कथाओं का यही संकेत है कि हमारी मुक्ति अपने ही कर्मों से हो सकती है।^३

१. रोमियो- ८।६, ९, १०।

२. यूहन्ना- १०/९, १२/४५-४६

३. भारत की अन्तरात्मा- पृ० ९०, मैथ्यू १३, २४-३०, ४५-४६।

(३). नैतिक आचरण- ईसाई धर्म में मुक्ति के मार्ग के रूप में नैतिक आचरण की शुद्धता पर भी बल दिया गया है, क्योंकि मानव का भावी जीवन वर्तमान के कर्मों पर निर्भर होता है। वही व्यक्ति देवी साम्राज्य का अधिकारी होगा जिसका नैतिक आचरण शद्ध रहा है अर्थात् जिसने नैतिक जीवन व्यतीत किया है तथा बुरे आचरण के लिए ईश्वर से क्षमा की प्रार्थना की है। पाप से क्षमा होने पर ही उसे मुक्ति मिलेगी। इसी से यह भी प्रकट होता है कि ईसाई धर्म वैयक्तिक अमरता में विश्वास करता है। अन्य धर्मों की अपेक्षा ईसाई धर्म नैतिकता पर इतना अधिक बल देता है कि व्यवहारिक दृष्टि से कुछ लोग इसे संभव नहीं मानते परन्तु इतना सत्य है कि मानव जीवन के लिए नैतिकता का अतिवादी रूप बहुत चौकने वाला भी नहीं है, क्योंकि नैतिकता का प्रश्न पशु जीवन के लिए नहीं, मनुष्य के लिए ही उठाया जा सकता है। ईसा का यह उपदेश मनुष्य को ही दिया जा सकता है कि “मैं तुमसे कहता हूँ कि अपने बैरियों से प्रेम रखो और अपने सताने वालों के लिए प्रार्थना करो।”

सारांश यह है कि ईसाई धर्म के अनुसार, मानव जीवन का चरम उद्देश्य पाप से मुक्त होना और वैयक्तिक अमरता को प्राप्त करना है। परन्तु इसकी अमरत्व की धारणा हिन्दू धर्म में वेदान्त की धारणा से भिन्न है। वेदान्त में तो ब्रह्म और जीव में एकाकारता हो जाती है परन्तु ईसाई धर्म में एकाकारता नहीं होती इस धर्म में मनुष्य ईश्वरत्व को नहीं प्राप्त करता वरन् वह ईश्वर से अलग अपनी सत्ता बनाये रखता है।

समीक्षा- ईसाई धर्म के अनुसार पाप से निवृत्ति होने के बाद ही मुक्ति संभव है। ईश्वर के प्रतिरूप में मनुष्य ने झूठ और अनित्य रूप को चाहा तथा अपने सच्चे रूप अर्थात् ईश्वर से दूर भागता रहा। पाप का उदय हो गया। परन्तु मनुष्य में ईश्वर ने स्वतन्त्र इच्छा शक्ति दी है, उसका वह उपयोग कर सकता है। मनुष्य स्वभावतः पापी नहीं है। वह अपनी परमगति को प्राप्त करता है। उस पर उसका अधिकार है। उसे कोई छीन नहीं सकता कुछ समय के लिए टल जरूर सकता है। डॉ० राधाकृष्णन का कथन है कि 'वह सिद्धान्त जो मनुष्य को स्वभावतः पापी समझता है, मुझे भय है सत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। हमारी प्रकृति तो दैवी है। जो पुरुष संसार में आता है, वह ईश्वरीय ज्योति से युक्त रहता है। यदि मैं तुममें न होता तो तुम हमारी खोज नहीं कर सकते थे- इस दृष्टि से पाप-वृत्ति-त्याग किसी नवीन वृत्ति का आविर्भाव नहीं है।--मुक्ति अपने भीतर के देवत्व के क्रमिक

ईसाई धर्म

विकास का परिणाम है, ईश्वरीय कृपा का फल नहीं।^१ इस प्रकार यदि ईसाई धर्म में पाप पर अधिक बल न दिया तो 'मुक्त आत्मा के लक्षण हिन्दू और ईसाई मत में समान ही हैं।' मुक्ति का फल ज्ञान, प्रेम तथा आनन्द है।- मुक्त पुरुष के पास केवल ज्ञान तथा प्रेम की नहीं होता वरन् उनके पास तो वह शान्ति भी होती है जो मनुष्यों एवं परिस्थितियों की शक्ति से परे होती है और जिसका वर्णन हिन्दू किया करते हैं। यही वह आनन्द है जिसकी ओर ईसा ने संकेत किया था, जब उन्होंने कहा था- 'अपना आनन्द मैं तुम्हें देता हूँ और तुम्हारा आनन्द तुमसे कोई नहीं छिनता'। इस प्रकार ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म के मुक्ति-सिद्धान्त में पर्याप्त साम्य है। डॉ० राधाकृष्ण ने दो बातों पर विशेष बल दिया है। एक है अपने त्याग से दूसरों के पापों का प्रायश्चित्त करने का सिद्धान्त और दूसरा ईसा के बलिदान के फलस्वरूप ईश्वर द्वारा मनुष्यों को फिर से अपना लेने का सिद्धान्त। उनका कहना है कि यदि इन दो बातों में विश्वास न करें तो हिन्दू और ईसाई धर्म में मुक्ति के स्वरूप तथा साधन के सम्बन्ध में भेद नहीं रह जाता। उनका कहना है कि 'यह बात तो निर्विवाद है कि सभी साधुओं की तरह ईसा भी किसी हद तक हमें पापों से बचाकर ईश्वर की ओर ले जाता है, किन्तु ईसा का बलिदान लोगों के पापों का प्रायश्चित्त करे, यह अन्तर्गल बता है।'^१



१. वही, पृ० ९९-१००।



Published by:

South Asia Research & Development Institute

B. 28/70, Manas Mandir, Durgakund
Varanasi-221005, U.P. (INDIA)

₹ 275/-

ISBN 978-81-932391-8-6



RA: GRAPHICS & 09413042611